वीर नि० सं० २४३९ के जैनहितैषीका तीसरा उपहार।

नमो जिनाय।

जिनपूजाधिकार-मीमांसा।

लेखक-

बाबू जुगलकिशोर मुख्तार, देवबन्द

जिला सहारनपुरनिवासी।

प्रकाशक-

सेठ नाथारंगजी गांधी, बम्बई।

श्रीवीरनि० संवत् २४३९

अप्रैल १९१३.

जो चाहता है अपना, कल्याण मित्र, करना।
जगदेकबन्धु जिनकी, पूजा पवित्र करना॥
दिल खोल करके उसको, करने दो कोइ भी हो।
फलते हैं भाव सबके, कुल जाति कोइ भी हो॥

—जैनहितैषी।

निवेदन ।

इस पुस्तकमें एक ऐसे विषयका विचार किया गया है जो विवादग्रस्त होनेपर भी जैनधर्मको सार्वभौम बनानेके ख़्यालसे बहुत ही आवश्यक है । हो सकता है कि इसमें जो दलीलें और जो प्रमाण दिये गये हैं वे सर्वमान्य न हों—उनमें विद्वानोंको शंकायें करनेकी गुंजाइश हो; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसके प्रकाशित होनेसे एक प्रकारका आन्दोलन उठेगा और उससे यह विषय 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'के अनुसार कुछ समयमें अच्छी तरहसे मँज जायगा ।

मैं अपने मित्र बाबू जुगलकिशोरजीका बहुत ही आभारी हूं जो उन्होंने कृपाकरके अपनी इस महत्त्वपूर्ण पुस्तकको जैनहितैषीके उपहारमें देनेकी इच्छा प्रगट करके उसके गौरवको बढ़ाया ।

इस वर्षके उपहारमें लगभग ४०० पृष्ठके उपहारग्रन्थ दिये जा चुके थे, इसलिए जैनहितैषीकी यह सामर्थ्य नहीं थी कि वह इस ग्रन्थको और भी अपने ग्राहकोंको भेंट देता; परन्तु धन्यवाद है श्रीमान् सेठ नाथारंगजीगांधी को कि जिन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे इसे छपाना स्वीकार कर लिया और इसकी लगभग ११०० प्रतियां जैनहितैषीके उपहारके लिए विना मूल्य अर्पण कर दीं । इस विषयमें मुझे यह नहीं सूझता कि मैं उक्त धर्मात्मा सेठजीका उपकार किन शब्दोंमें प्रगट करूं ।

बम्बई
१६–४–१३

विनीत—
नाथूराम प्रेमी ।

श्री अकलंकाय नमः ।

जिन-पूजाऽधिकार-मीमांसा ।

उत्थानिका ।

जो मनुष्य जिस मतको मानता है—जिस धर्मका श्रद्धानी और अनुयायी है, वह उसी मत वा धर्मके पूज्य और उपास्य देवताओंकी पूजा और उपासना करता है। परन्तु आजकलके कुछ जैनियोंका खयाल इस सिद्धान्तके विरुद्ध है। उनकी समझमें प्रत्येक जैनधर्मानुयायीको (जैनीको) जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेका अधिकार नहीं है। उनकी कल्पनाके अनुसार बहुतसे लोग जिनेन्द्रदेवके पूजकोंकी श्रेणीमें अवस्थान नहीं पाते। चाहे वे लोग अन्यमतके देवी देवताओंकी पूजा और उपासना भले ही करें, पर जिनेन्द्रदेवकी पूजा और उपासनासे अपनेको कृतार्थ नहीं कर सकते। * शायद उनका ऐसा श्रद्धान हो कि ऐसे लोगोंके पूजन करनेसे महान् पापका बन्ध होता है और वह पाप शास्त्रोक्त नियमोंका उल्लंघन करके संक्रामक रोगकी तरह अड़ौसियों-पड़ौसियों, मिलने जुलनेवालों और खासकर सजातियोंको चिचलता फिरता है। परन्तु यह केवल उनका भ्रम है और आज इसी भ्रमको दूर करने अर्थात् श्रीजिनेंद्र-देवके पूजनका किस किसको अधिकार है, इस विषयकी मीमांसा और विवेचना करनेके लिये यह निबन्ध लिखा जाता है।

---

* इसी प्रकारके विचारोंसे खातौलीके दस्सा और बीसा जैनियोंके मुकद्दमेका जन्म हुआ और ऐसे ही प्रौढ विचारोंसे सर्धना जिला मेरठके जिन-मंदिरको करीब करीब तीनसालतक ताला लगा रहा।

पूजन-सिद्धान्त ।

जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि यह आत्मा जो अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा है और विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है, वही उन्नति करते करते कर्ममलको दूर करके परमात्मा बन जाता है, आत्मासे भिन्न और पृथक् कोई एक ईश्वर या परमात्मा नहीं है। आत्माकी परम-विशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है—अरहंत, जिनेन्द्र, जिनदेव तीर्थंकर, सिद्ध, सार्व, सर्वज्ञ, वीतराग, परमेष्ठि, परमज्योति, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, आप्त, ईश्वर, परब्रह्म, इत्यादि उसी परमात्मा या पर-मात्मपदके नामान्तर हैं—या दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि परमात्मा आत्मीय अनन्तगुणोंका समुदाय है। उसके अनन्त गुणोंकी अपेक्षा उसके अनन्त नाम हैं। वह परमात्मा परम वीतरागी और शान्तस्वरूप है, उसको किसीसे राग या द्वेप नहीं है, किसीकी स्तुति, भक्ति और पूजासे वह प्रसन्न नहीं होता और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटु शब्दोंसे अप्रसन्न होता; धनिक श्रीमानों, विद्वानों और उच्च श्रेणी या वर्णके मनुष्योंको वह प्रेमकी दृष्टिसे नहीं देखता आर न निर्धन कंगालों, मूर्खों और निम्नश्रेणीके मनुष्योंको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करता; न सम्यग्दृष्टि उसके कृपापात्र हैं और न मिथ्यादृष्टि उसके कोपभाजन; वह परमानंदमय और कृतकृत्य है, सांसारिक झगड़ोंसे उसका कोई प्रयोजन नहीं। इसलिये जैनि-योंकी उपासना, भक्ति और पूजा, हिन्दू मुसलमान और ईसाइयोंकी तरह, परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नहीं होती। उसका एक दूसरा ही उद्देश्य है जिसके कारण वे ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और वह संक्षिप्तरूपसे यह है कि:—

यह जीवात्मा स्वभावसे ही अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार है। परन्तु अनादि कर्म-मलसे मलिन होनेके कारण इसकी वे समस्त शक्तियां आच्छादित हैं—क-र्मोंके पटलसे वेष्टित हैं और यह आत्मा संसारमें इतना लिप्त और मोह-जालमें इतना फँसा हुआ है कि उन शक्तियोंका विकाश होना तो दूर रहा, उनका स्मरणतक भी इसको नहीं होता। कर्मके किंचित् क्षयोपशमसे जो

कुछ थोड़ा बहुत ज्ञानादि लाभ होता है, यह जीव उतनेहीमें सन्तुष्ट होकर उसीको अपना स्वरूप समझने लगता है। इन्हीं संसारी जीवोंमेंसे जो जीव, अपनी आत्मनिधिकी सुधि पाकर धातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाऽग्निके बलसे, इस समस्त कर्ममलको दूर कर देता है, उसमें आत्माकी वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ और निर्मल होकर परमात्मदशाको प्राप्त हो जाता है तथा **परमात्मा** कहलाता है। **केवलज्ञान** (सर्वज्ञता) की प्राप्ति होनेके पश्चात् जबतक देहका सम्बन्ध बाकी रहता है, तबतक उस परमात्माको **सकलपरमात्मा** (जीवन्मुक्त) या अरहंत कहते हैं और जब देहका सम्बन्ध भी छूट जाता है और मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तब वही सकल परमात्मा **निष्कलपरमात्मा** (विदेहमुक्त) या **सिद्ध** नामसे विभूषित होता है। इस प्रकार अवस्थाभेदसे परमात्माके दो भेद कहे जाते हैं। वह परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्थामें अपनी दिव्यवाणीके द्वारा संसारी जीवोंको उनकी आत्माका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता है अर्थात् उनकी आत्मनिधि क्या है, कहां है, किस किस प्रकारके कर्मपटलोंसे आच्छादित है, किस किस उपायसे वे कर्मपटल इस आत्मासे जुदा हो सकते हैं, संसारके अन्य समस्त पदार्थोंसे इस आत्माका क्या सम्बन्ध है, दुःखका, सुखका और संसारका स्वरूप क्या है, कैसे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है—इत्यादि समस्त बातोंका विस्तारके साथ सम्यक्प्रकार निरूपण करता है, जिससे अनादि अविद्याग्रसित संसारी जीवोंको अपने कल्याणका मार्ग सूझता है और अपना हित साधन करनेमें उनकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार परमात्माके द्वारा जगतका निःसीम उपकार होता है। इसी कारण परमात्माके सार्व, **परमहितोपदेशक, परमहितैषी** और **निर्निमित्तबन्धु** इत्यादि भी नाम हैं। इस महोपकारके बदलेमें हम (संसारी जीव) परमात्माके प्रति जितना आदर सत्कार प्रदर्शित करें और जो कुछ भी कृतज्ञता प्रगट करें वह सब तुच्छ है। दूसरे जब आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और उस अवस्थाको प्राप्त करना अर्थात् परमात्मा बनना सब आत्माओंका अभीष्ट है, तब आत्मस्वरूपकी या दूसरे

शब्दोंमें परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्त्तव्य है। परमात्माका ध्यान, परमात्माके अलौकिकचरित्रका विचार और परमात्माकी ध्यानावस्थाका चिन्तवन ही हमको अपनी आत्माकी याद दिलाता है—अपनी भूली हुई निधिकी स्मृति कराता है। परमात्माका भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपनी आत्माका अनुभवन है। आत्मोन्नतिमें अग्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है। आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये हम उसी आदर्शको अपने सन्मुख रखकर अपने चरित्रका गठन करते हैं। अपने आदर्शपुरुषके गुणोंमें भक्ति और अनुरागका होना स्वाभाविक और जरूरी है। विना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो जिस गुणका आदर सत्कार करता है अथवा जिस गुणसे प्रेम रखता है; वह उस गुणके गुणीका भी अवश्य आदरसत्कार करता है और उससे प्रेम रखता है। क्योंकि गुणीके आश्रय विना कहीं भी गुण नहीं होता। आदरसत्काररूप प्रवर्त्तनका नाम ही पूजन है। इस लिये परमात्मा[1], इन्हीं समस्त कारणोंसे हमारा परमपूज्य उपास्य देव है और द्रव्यदृष्टिसे समस्त आत्माओंके परस्पर समान होनेके कारण वह परमात्मा सभी संसारी जीवोंको समान भावसे पूज्य है। यही कारण है कि परमात्माके त्रैलोक्यपूज्य और जगत्पूज्य इत्यादि नाम भी कहे जाते हैं। परमात्माका पूजन करने, परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़ाने और परमात्माका भजन और चिन्तवन करनेसे इस जीवात्माको पापोंसे बचनेके साथ साथ महत्पुण्योपार्जन होता है। जो जीव परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करता, वह अपने आत्मीय गुणोंसे पराङ्मुख और अपने

---

१ इन्हीं कारणोंसे अन्य वीतरागी साधु और महात्मा भी जिनमें आत्माकी कुछ शक्तियां विकसित हुई हैं और जिन्होंनें अपने उपदेश, आचरण और शास्त्रनिर्माणसे हमारा उपकार किया है, वे सब हमारे पूज्य हैं।

आत्मलाभसे वंचित रहता है–इतना ही नहीं, किन्तु वह कृतघ्नताके¹ दोषसे भी दूषित होता है।

अतः परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना सबके लिये उपादेय और ज़रूरी है।

परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्था अर्थात् अरंहत अवस्थामें सदा और सर्वत्र विद्यमान नहीं रहता, इस कारण परमात्माके स्मरणार्थ और परमात्माके प्रति आदर सत्काररूप प्रवर्त्तनेके आलम्बनस्वरूप उसकी अरहंत अवस्थाकी मूर्ति बनाई जाती है। वह मूर्ति परमात्माके वीतरागता, शान्तता और ध्यानमुद्रा आदि गुणोंका प्रतिबिम्ब होती है। उसमें स्थापनानिक्षपसे मंत्रोंद्वारा परमात्माकी प्रतिष्ठा की जाती है। उसके पूजनेका भी समस्त वही उद्देश्य है, जो ऊपर वर्णन किया गया है; क्योंकि मूर्त्तिके पूजनसे धातु पाषाणका पूजना अभिप्रेत (इष्ट) नहीं है, बल्कि मूर्त्तिके द्वारा परमात्माहीकी पूजा, भक्ति और उपासनाकी जाती है। इसी लिये इस मूर्त्तिपूजनके जिनपूजन, देवार्चन, जिनार्चा, देवपूजा इत्यादि नाम कहे जाते हैं और इसीलिये इस पूजनको साक्षात् जिनदेवके पूजनतुल्य वर्णन किया है। यथा:—

> "भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाकृत्रिमा सदा।
> यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः ॥"
>
> —धर्मसंग्रहश्रावकाचार अ० ९, श्लोक ४२।

परमात्माकी इस परमशान्त और वीतरागमूर्त्तिके पूजनमें एक बड़ी भारी खूबी और महत्त्वकी बात यह है कि जो संसारी जीव संसारके मायाजाल और गृहस्थीके प्रपंचमें अधिक फंसे हुए हैं, जिनके चित्त अति चंचल हैं और जिनका आत्मा इतना बलाढ्य नहीं है कि जो केवल

---

१ अहसान फरामोशी–किये हुए उपकारको भूल जाना या कृतघ्नता।
"अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः, प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धेर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥"
—गोम्मटसार–टीका।

शास्त्रोंमें परमात्माका वर्णन सुनकर एकदम बिना किसी नक्शेके परमात्मस्वरूपका नकशा (चित्र) अपने हृदयमें खींच सके या परमात्मस्वरूपका ध्यान कर सकें, वे ही उस मूर्तिके द्वारा परमात्मस्वरूपका कुछ ध्यान और चिन्तवन करनेमें समर्थ हो जाते हैं और इसीसे आगामी दुःखों और पापोंकी निवृत्तिपूर्वक अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें अग्रसर होते हैं।

जब कोई चित्रकार चित्र खींचनेका अभ्यास करता है तब वह सबसे प्रथम सुगम और सादा चित्रोंपरसे, उनको देखदेखकर, अपना चित्र खींचनेका अभ्यास बढ़ाता है, एकदम किसी कठिन, गहन और गम्भीर चित्रको नहीं खींच सकता। जब उसका अभ्यास बढ़ जाता है, तब कठिन, गहन और रंगीन चित्रोंको भी सुन्दरताके साथ बनाने लगता है और छोटे चित्रको बड़ा और बड़ेको छोटा भी करने लगता है। आगे जब अभ्यास करते करते वह चित्रविद्यामें पूरी तौरसे निपुण और निष्णात हो जाता है, तब वह चलती, फिरती,–दौड़ती, भागती वस्तुओंका भी चित्र बड़ी सफ़ाईके साथ बातकी बातमें खींचकर रख देता है और चित्र-नायकको न देखकर, केवल व्यवस्था और हाल ही मालूम करके, उसका साक्षात् जीता जागता चित्र भी अंकित कर देता है। इसी प्रकार यह संसारी जीव भी एकदम परमात्मस्वरूपका ध्यान नहीं कर सकता अर्थात् परमात्माका फ़ोटू अपने हृदयपर नहीं खींच सकता, वह परमात्माकी परम वीतराग और शान्त मूर्त्तिपरसे ही अपने अभ्यासको बढ़ाता है। मूर्त्तिके निरन्तर दर्शनादि अभ्याससे जब उस मूर्तिकी वीतरागछवि और ध्यानमुद्रासे वह परिचित हो जाता है, तब शनैः शनैः एकान्तमें बैठकर उस मूर्तिका फ़ोटू अपने हृदयमें खींचने लगता है और फिर कुछ देरतक उसको स्थिर रखनेके लिये भी समर्थ होने लगता है। ऐसा करनेपर उसका मनोबल और आत्मबल बढ़ जाता है और वह फिर इस योग्य हो जाता है कि उस मूर्त्तिके मूर्त्तिमान् श्रीअरहंतदेवका समवसरणादि विभूति सहित साक्षात् चित्र अपने हृदयमें खींचने लगता है। इस प्रकारके ध्यानका नाम रूपस्थध्यान है और यह ध्यान प्रायः मुनि अवस्थाहीमें होता है।

आत्मीय बलके इतने उन्नत हो जानेकी अवस्थामें फिर उसको धातु पाषाणकी मूर्त्तिके पूजनादिकी वा दूसरे शब्दोंमे यों कहिये कि परमात्माके ध्यानादिके लिये मूर्त्तिका अवलम्बन लेनेकी ज़रूरत बाकी नहीं रहती; बल्कि वह रूपस्थध्यानके अभ्यासमें परिपक्क होकर और अधिक उन्नति करता है और साक्षात् सिद्धोंका चित्र भी खींचने लगता है जिसको रूपातीतध्यान कहते हैं। इसप्रकार ध्यानके बलसे वह अपनी आत्मासे कर्ममलको छांटता रहता है और फिर उन्नतिके सोपानपर चढ़ता हुआ शुक्लध्यान लगाकर समस्त कर्मोंको क्षय कर देता है और इस प्रकार आत्मत्वको प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय इसका यह है कि मूर्ति-पूजन आत्मदर्शनका प्रथम सोपान है और उसकी आवश्यकता प्रथमावस्था (गृहस्थावस्था) हीमें होती है। बल्कि दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जितना जितना कोई नीचे दर्जेमें है, उतना उतना ही जियादा उसको मूर्त्तिपूजनकी या मूर्त्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत है। यही कारण है कि हमारे आचार्योंने गृहस्थोंके लिये इसकी ख़ास ज़रूरत रक्खी है और नित्यपूजन करना गृहस्थोंका मुख्य धर्म वर्णन किया है।

सर्वसाधारणाऽधिकार।

भगवज्जिनसेनाचार्यने श्रीआदिपुराण (महापुराण)में लिखा है कि–

"दानं पूजा च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम्।
धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाम्नातो गृहमेधिनाम्॥"

—पर्व ४१, श्लोक १०४।

अर्थात्–दान, पूजन, व्रतोंका पालन (व्रतानुपालनं शीलं) और पर्वके दिन उपवास करना, यह चार प्रकारका गृहस्थोंका धर्म है।

अमितगतिश्रावकाचारमें श्रीअमितगति आचार्यने भी ऐसा ही वर्णन किया है । यथाः—

"दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः ।
श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥"

—अ० ९, श्लो० १ ।

श्रीपद्मनन्दि आचार्य पद्मनन्दिपंचविंशतिकामें श्रावकधर्मका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—

"देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥"

—अ० ६, श्लो० ७ ।

अर्थात्–देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये षट्कर्म गृहस्थोंको प्रतिदिन करने योग्य हैं–भावार्थ, धार्मिकदृष्टिसे गृहस्थोंके ये सर्वसाधारण नित्य कर्म हैं । श्री सोमदेवसूरि भी यशस्तिलकमें वर्णित उपासकाध्ययनमें इन्हीं षट्कर्मोंका, प्रायः इन्हीं (उपर्युल्लिखित) शब्दोंमें गृहस्थोंको उपदेश देते हैं । यथाः—

"देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥"

—कल्प ४६, श्लो० ७ ।

गृहस्थोंके लिये पूजनकी अत्यन्त आवश्यताको प्रगट करते हुए श्रीपद्मनन्दि आचार्य फिर लिखते हैं कि—

"ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥"

—अ० ६, श्लो० १५ ।

अर्थात्–जो जिनेन्द्रका दर्शन, पूजन और स्तवन नहीं करते हैं, उनका जीवन निष्फल है और उनके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है । इसी आवश्यक-

ताको अनुभव करते हुए श्रीसकलकीर्ति आचार्य सुभाषितवलीमें यहांतक लिखते हैं कि:—

"पूजां विना न कुर्येत भोगसौख्यादिकं कदा।"

अर्थात्—गृहस्थोंको विना पूजनके कदापि भोग और उपभोगादिक नहीं करना चाहिये। सबसे पहले पूजन करके फिर अन्य कार्य करना चाहिये। श्रीधर्मसंग्रहश्रावकाचारमें गृहस्थाश्रमका स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है कि:—

"इज्या वार्त्ता तपो दानं स्वाध्यायः संयमस्तथा।
ये षट्कर्माणि कुर्वन्त्यन्वहं ते गृहिणो मताः॥"

—अ० ९, श्लो० २६।

अर्थात्—इज्या (पूजन), वार्त्ता (कृषिवाणिज्यादि जीवनोपाय), तप, दान, स्वाध्याय, और संयम, इन छह कर्मोंको जो प्रतिदिन करते हैं, वे गृहस्थ कहलाते हैं। भावार्थ-धार्मिक और लौकिक, उभयदृष्टिसे ये गृहस्थोंके छह नित्यकर्म हैं। गुरूपास्ति जो ऊपर वर्णन की गई है, वह इज्याके अन्तर्गत होनेसे यहां पृथक् नहीं कही गई।

भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराणके पर्व ३८ में निम्नलिखित श्लोकों द्वारा यह सूचित करते हैं कि ये इज्या, वार्त्ता आदि कर्म उपासकसूत्रके अनुसार गृहस्थोंके षट्कर्म हैं। आर्यषट्कर्मरूप प्रवर्त्तना ही गृहस्थोंकी कुलचर्या है और इसीको गृहस्थोंका कुलधर्म भी कहते हैं:—

"इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत्॥ २४॥
विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्त्तनम्।
गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः॥ १४४॥"

महाराजा चामुण्डरायने चारित्रसारमें और विद्वद्वर पं० आशाधरजीने सागरधर्मामृतमें भी इन्हीं षट्कर्मोंका वर्णन किया है। इन

षट्कर्मोंमें दान और पूजन, ये दो कर्म सबसे मुख्य हैं। इस विषयमें पं० आशाधरजी सागरधर्मामृतमें लिखते हैं कि:—

"दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्।"

—अ० १, श्लो० १५।

अर्थात्—दान और पूजन, ये दो कर्म जिसके मुख्य हैं और ज्ञानाऽमृतका पान करनेके लिये जो निरन्तर उत्सुक रहता है वह श्रावक है। भावार्थ-श्रावक वह है जो कृषिवाणिज्यादिको गौण करके दान और पूजन, इन दो कर्मोंको नित्य सम्पादन करता है और शास्त्राऽध्ययन भी करता है।

स्वामी कुंदकुंदाचार्य, रयणसार ग्रंथमें; इससे भी बढ़कर साफ़ तौरपर यहांतक लिखते हैं कि विना दान और पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता या दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि ऐसा कोई श्रावक ही नहीं होसकता जिसको दान और पूजन न करना चाहिये। यथाः—

"दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइ धम्मो तं विणा सोवि॥ १०॥"

अर्थात्-दान देना और पूजन करना, यह श्रावकका मुख्य धर्म है इसके विना कोई श्रावक नहीं कहला सकता और ध्यानाऽध्ययन करना यह मुनिका मुख्य धर्म है। जो इससे रहित है, वह मुनि ही नहीं है। भावार्थ-मुनियोंके ध्यानाऽध्ययनकी तरह, दान देना और पूजन करना ये दो कर्म श्रावकोंके सर्व साधारण मुख्य धर्म और नित्यके कर्त्तव्य कर्म हैं।

ऊपरके वाक्योंसे भी जब यह स्पष्ट है कि पूजन करना गृहस्थका धर्म तथा नित्य और आवश्यक कर्म है-विना पूजनके मनुष्यजन्म निष्फल और गृहस्थाश्रम धिक्कारका पात्र है और विना पूजनके कोई गृहस्थ या श्रावक नाम ही नहीं पा सकता, तब प्रत्येक गृहस्थ जैनीको नियमपूर्वक अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये, चाहे वह अग्रवाल हो, खंडेलवाल हो, या परवार आदि अन्य किसी जातिका; चाहे स्त्री हो या पुरुष; चाहे व्रती हो या अव्रती;

चाहे बीसा हो या दस्सा और चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, सबको पूजन करना चाहिये। सभी गृहस्थ जैनी है, सभी श्रावक हैं, अतः-सभी पूजनके अधिकारी हैं।

श्रीतीर्थंकर भगवानके अर्थात् जिस अरहंत परमात्माकी मूर्ति बनाकर हम पूजते हैं उसके समवसरणमें भी, क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या व्रती, क्या अव्रती, क्या ऊंच और क्या नीच, सभी प्रकारके मनुष्य जाकर साक्षात् भगवानका पूजन करते हैं। और मनुष्य ही नहीं, समवसरणमें पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक भी जाते हैं–समवसरणकी बारह सभाओंमें उनकी भी एक सभा होती है–वे भी अपनी शक्तिके अनुसार जिनदेवका पूजन करते हैं। पूजन-फलप्राप्तिके विषयमें एक मेंडककी कथा सर्वत्र जैनशास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। पुण्यास्रवकथाकोश, महावीरपुराण, धर्मसंग्रहश्रावकाचार आदि अनेक ग्रंथोंमें यह कथा विस्तारके साथ लिखी है और बहुतसे ग्रंथोंमें इसका निम्नलिखित प्रकारसे उल्लेख मात्र किया है। यथाः—

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें,

"अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे॥" १२०॥

सागरधर्मामृतमें,

"यथाशक्ति यजेतार्हद्देवं नित्यमहादिभिः।
संकल्पतोऽर्पितं यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते॥" २–२४॥

कथाका सारांश यह है कि जिस समय राजगृह नगरमें विपुलाचल पर्वतपर हमारे अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीका समवसरण आया और उसके सुसमाचारसे हर्षोल्लसित होकर महाराजा श्रेणिक आनंदभेरी बजवाते हुए परिजन और पुरजन सहित श्रीवीरजिनेन्द्रकी पूजा और वन्दनाको चले, उससमय एक मेंडक भी, जो नागदत्त श्रेष्ठीकी बावड़ीमें रहता था और जिसको अपनी पूर्वजन्मकी स्त्री भवदत्ताको देखकर जा-

तिस्मरण होगया था, श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजाके लिये मुखमें एक कमल दबाकर उछलता और कूदता हुआ नगरके लोगोंके साथ समवसरणकी ओर चल दिया। मार्गमें महाराजा श्रेणिकके हाथीके पैरतले आकर वह मेंडक मर गया और पूजनके इस संकल्प और उद्यमके प्रभावसे, मरकर सौधर्म स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। फिर वह देव समवसरणमें आया और श्रीगणधरदेवके द्वारा उसका चरित्र लोगोंको मालूम हुआ। इससे प्रगट है कि समवसरणादिमें जाकर तिर्यंच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते हैं।

समवसरणको छोड़कर और भी बहुतसे स्थानोंपर तिर्यंचोंके पूजन करनेका कथन पाया जाता है। पुण्यास्रव और आराधनासार-कथाकोशमें लिखा हैं कि धाराशिव नगरमें एक बँवी थी जिसमें श्रीपार्श्वनाथ स्वामीकी रत्नमयी प्रतिमा एक मंजूषेमें रक्खी हुई थी। एक हाथी, जिसको जातिस्मरण होगया था, प्रतिदिन तालाबसे अपनी सूंड़में पानी भरकर लाता और उस बँवीकी तीन प्रदक्षिणा देकर वह पानी उस-पर छोड़ता और फिर एक कमलका फूल चढ़ाकर पूजन करता और मस्तक नवाता था। इस प्रकार वह हाथी श्रावकधर्मको पालता हुआ प्रतिदिन उस प्रतिमाका पूजन करता था। जब राजा करकंडुको यह समाचार मालूम हुआ, तब उसने उस बँवीको खुदवाया और उसमेंसे वह प्रतिमा निकली। प्रतिमाके निकलनेपर हाथीने सन्यास धारण किया और अन्तमें वह हाथी मरकर सहस्रारस्वर्गमें देव हुआ। इसीप्रकार तिर्यंचोंके पूजनसंबंधमें और भी अनेक कथाएँ है। जब तिर्यंच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते हैं, तब ऐसा कौन मनुष्य होसकता है कि जिसको पूजन न करना चाहिये और जो भावपूर्वक जिनेंद्रदेवका पूजन करके उत्तम फलको प्राप्त न हो? अभिप्राय यह कि, आत्महितचिन्तक सभी प्राणि-योंके लिये पूजन करना श्रेयस्कर है। इसलिये गृहस्थोंको अपना कर्तव्य समझकर अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये।

पूजनके भेद ।

पूजन कई प्रकारका होता है । आदिपुराण, सागरधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, चारित्रसार आदि ग्रन्थोंमें नित्य[1], अष्टान्हिक[2], ऐन्द्रध्वज[3], चतुर्मुख[4], और कल्पद्रुम[5], इस प्रकार पूजनके पांच भेद वर्णन किये हैं । वसुनन्दिश्रावकाचार और धर्मसंग्रहश्रावकाचार-

---

१ नित्यपूजनका स्वरूप आगे विस्तारके साथ वर्णन किया गया है ।

२-३, "जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नन्दीश्वरपर्वणि ।
अष्टाह्निकोऽसौ सेन्द्राद्यैः साध्या त्वैन्द्रध्वजो महः ॥"—सागरधर्मा० ।

अर्थात्—नन्दीश्वर पर्वमें (आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुण इन तीन महीनोंके अन्तिम आठ आठ दिनोंमें)जो पूजन किया जाता है, उसको अष्टाह्निक पूजन कहते हैं और इन्द्रादिक देव मिलकर जो पूजन करते हैं, उसको ऐन्द्रध्वज पूजन कहते हैं ।

४ "महामुकुटबद्धैस्तु क्रियमाणो महामहः ।
चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥"—आदिपुराण ।
"भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते
तदाख्याः सर्वतोभद्रचतुर्मुखमहामहाः ॥—सागरध० ।

अर्थात्—मुकुटबद्ध (मांडलिक) राजाओंके द्वारा जो पूजन किया जाता है, उसको चतुर्मुख पूजन कहते हैं । इसीका नाम सर्वतोभद्र और महामह भी है ।

५ "दत्वा किमिच्छुकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते ।
कल्पवृक्षमहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः ॥"—आदिपुराण ।
"किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः ।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः ॥"—सागरध० ।

अर्थात्—याचकोंको उनकी इच्छानुसार दान देकर जगतकी आशाको पूर्ण करते हुए चक्रवर्त्ति सम्राट्द्वारा जो जिनेंद्रका पूजन किया जाता है, उसको कल्पद्रुम पूजन कहते हैं ।

में प्रकारान्तरसे नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ऐसे

१ "उच्चारिऊण णामं, अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि ।
पुप्फाईणि खिविज्जंति विण्णेया णामपूजा सा ॥"
—वसुनन्दिश्रा० ।

अर्थात्—अर्हतादिकका नाम उच्चारण करके किसी शुद्ध स्थानमें जो पुष्पादिकक्षेपण किये जाते हैं, उसको **नाम**पूजन कहते हैं ।

२ तदाकार वा अतदाकार वस्तुमें जिनेन्द्रादिके गुणोंका आरोपण और संकल्प करके जो पूजन किया जाता है, उसको **स्थापना**पूजन कहते हैं । स्थापनाके दो भेद हैं—१ **सद्भावस्थापना** और २ **असद्भावस्थापना** । अरहंतोंकी **प्रतिष्ठाविधि**को **सद्भावस्थापना** कहते हैं । (स्थापनापूजनका विशेष वर्णन जाननेके लिये देखो वसुनन्दिश्रावकाचार आदि ग्रंथ ।)।

३ "दव्वेण य दवस्स य, जा पूजा जाण दव्वपूजा सा ।
दव्वेण गंधसलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा ॥
तिविहा दव्वे पूजा सचित्ताचित्तमिस्सभेएण ।
पच्चक्खजिणाईणं संचित्तपूजा जहाजोग्गं ॥
तेसिं च सरीराणं दव्वसुदस्सवि अचित्तपूजा सा ।
जा पुण दोण्हं कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा ॥
—वसुनन्दिश्राव० ।

अर्थात्—द्रव्यसे और द्रव्यकी जो पूजाकी जाती है, उसको **द्रव्यपूजन** कहते हैं । जलचंदनादिकसे पूजन करनेको **द्रव्यसे** पूजन करना कहते हैं और **द्रव्यकी** पूजा **सचित्त, अचित्त** और **मिश्र**के भेदसे तीन प्रकार है । साक्षात् श्रीजिनेंद्रादिके पूजनको **सचित्त** द्रव्यपूजन कहते हैं । उन जिनेंद्रादिके शरीरों तथा द्रव्यश्रुतके पूजनको **अचित्त** द्रव्यपूजन कहते हैं और दोनोंके एक साथ पूजन करनेको **मिश्रद्रव्यपूजन** कहते हैं । द्रव्यपूजनके आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य आदिके भेदसे और भी अनेक भेद हैं ।

४ "जिणजणमणिक्खवणणाणुप्पत्तिमोक्खसंपत्ति ।
णिसिही सुखेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥—वसुनंदि श्रा० ।

अर्थात्—जिन क्षेत्रोंमें जिनेंद्र भगवानके जन्म-तप-ज्ञान-निर्वाण कल्याणक हुए हैं, उन क्षेत्रोंमें जलचंदनादिकसे पूजन करनेको **क्षेत्रपूजन** कहते हैं ।

छह प्रकारका पूजन भी वर्णन किया है। परन्तु संक्षेपसे पूजनके, नित्य और नैमित्तिक, ऐसे दो भेद हैं। अन्य समस्त भेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव है। अष्टान्हिक आदिक चार प्रकारका पूजन नैमित्तिक पूजन कहलाता है और नामादिक छह प्रकारके पूजनोंमें कुछ नित्य नैमित्तिक और कुछ दोनों प्रकारके होते हैं। प्रतिष्ठा भी नैमित्तिक पूजनका ही एक प्रधान भेद है। तथापि नैमित्तिक पूजनोंमें बहुतसे ऐसे भी भेद हैं जिनमें पूजनकी विधि प्रायः नित्यपूजनके ही समान होती है और दोनोंके पूजकमें

---

५ "गर्भादि पंचकल्याणमर्हतां यद्दिनेऽभवत्।
तथा नन्दीश्वरे रत्नत्रयपर्वणि चाऽर्चनम्॥
स्नपनं क्रियते नाना रसैरिक्षुघृतादिभिः।
तत्र गीतादिमाङ्गल्यं कालपूजा भवेदियम्॥"
—धर्मसंग्रहश्रा०।

अर्थात्—जिन तिथियोंमें अरहंतोंके गर्भ, जन्मादिक कल्याणक हुए हैं, उनमें तथा नंदीश्वर, दशलक्षण और रत्नत्रयादिक पर्वोंमें जिनेंद्रदेवका पूजन, इक्षुरस आर दुग्ध-घृतादिकसे अभिषेक तथा गीत, नृत्य और जागरणादि मांगलिक कार्य करनेको **कालपूजन** कहते हैं।

६ "यदनन्तचतुष्काद्यैर्विधाय गुणकीर्त्तनम्।
त्रिकालं क्रियते देववन्दना भावपूजनम्॥
परमेष्ठिपदैर्जापः क्रियते यत्स्वशक्तितः।
अथवाऽर्हद्गुणस्तोत्रं साप्यर्चा भावपूर्विका॥
पिंडस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
ध्यायते यत्र तद्विद्धि भावार्चनमनुत्तरम्॥"
—धर्मसंग्रहश्रा०।

अर्थात्—जिनेंद्रके अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्यादि गुणोंकी भक्तिपूर्वक स्तुति करके जो त्रिकाल देववन्दना की जाती है, उसको तथा शक्तिपूर्वक पंच परमेष्ठिके जाप वा स्तवनको और पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानको भावपूजन कहते हैं। पिंडस्थादिक ध्यानोंका स्वरूप ज्ञानार्णवादिक ग्रंथोंमें विस्तारके साथ वर्णन किया है, वहांसे जानना चाहिये।

भी कोई भेद नहीं होता, जैसे अष्टान्हिक पूजन और काल पूजनादिक; इस लिये पूजनकी विधि आदिकी मुख्यतासे पूजनके नित्य-पूजन और प्रतिष्ठादिविधान, ऐसे भी दो भेद कहे जाते हैं और इन्हीं दोनों भेदोंकी प्रधानतासे पूजकके भी दो ही भेद वर्णन किये गये हैं—एक नित्य पूजन करनेवाला जिसको पूजक कहते हैं और दूसरा प्रतिष्ठा आदि विधान करनेवाला जिसको पूजकाचार्य कहते हैं। जैसा कि पूजासार और धर्मसंग्रहश्रावकाचारके निम्नलिखित श्लोकोंसे प्रगट है:—

"पूजकः पूजकाचार्य इति द्वेधा स पूजकः ।
आद्यो नित्यार्चकोऽन्यस्तु प्रतिष्ठादिविधायकः ॥ १६ ॥"

—पूजासार ।

"नित्यपूजा-विधायी यः पूजकः स हि कथ्यते ।
द्वितीयः पूजकाचार्यः प्रतिष्ठादिविधानकृत् ॥ ९–१४२ ॥

—धर्मसंग्रहश्रा० ।

चतुर्मुखादिक पूजन तथा प्रतिष्ठादि विधान सदाकाल नहीं बन सकते और न सब गृहस्थ जैनियोंसे इनका अनुष्ठान हो सकता है—क्योंकि कल्पद्रुम पूजन चक्रवर्त्ति ही कर सकता है; चतुर्मुख पूजन मुकुटबद्ध राजा ही कर सकते हैं; ऐन्द्रध्वज पूजाको इन्द्रादिक देव ही रचा सकते हैं; इसी प्रकार प्रतिष्ठादि विधान भी ख़ास ख़ास मनुष्य ही सम्पादन कर-सकते हैं—इस लिये सर्व साधारण जैनियोंके वास्ते नित्यपूजनहीकी मुख्यता है। ऊपर उल्लेख किये हुए आचार्यों आदिके वाक्योंमें 'दिने दिने' और 'अन्वहं' इत्यादि शब्दों द्वारा नित्यपूजनका ही उपदेश दिया गया है। इसी नित्यपूजनपर मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊंच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती, राजा, महाराजा, चक्रवर्त्ति और देवता, सबका समानअधिकार है अर्थात् सभी नित्यपूजन कर सकते हैं।

नित्यपूजनको नित्यमह, नित्याऽर्चन और सदार्चन इत्यादि भी कहते हैं।

नित्यपूजनका मुख्य स्वरूप भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें इसप्रकार वर्णन किया है:—

"तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति ।
स्वगृहान्नीयमानार्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥"

—अ. ३८, श्लो० २७ ।

अर्थात्—प्रतिदिन अपने घरसे जिनमंदिरको गंध, पुष्प, अक्षतादिक पूजनकी सामग्री ले जाकर जो जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना है उसको नित्य-पूजन कहते हैं। धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें भी नित्यपूजनका यही स्वरूप वर्णित है। यथाः—

"जलाद्यैर्धौतपूताङ्गैर्गृहान्नीतैर्जिनालयम् ।
यदर्च्यन्ते जिना युक्त्या नित्यपूजाऽभ्यधायि सा ॥"

—९—२७।

प्रतिदिन क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या बालिका—सभी गृहस्थ जन अपने अपने घरोंसे जो बादाम, छुहारा, लौंग, इलायची या अक्षत (चावल) आदिक लेकर जिनमंदिरको जाते हैं और वहां उस द्रव्यको, जिनेन्द्रदेवादिकी स्तुतिपूर्वक नामादि उच्चारण करके, जिनप्रतिमाके सन्मुख चढ़ाते हैं, वह सब नित्यपूजन कहलाता है। नित्यपूजनके लिये यह कोई नियम नहीं है कि वह अष्टद्रव्यसे ही किया जावे या कोई ख़ास द्रव्यसे या किसी ख़ास संख्यातक पूजाएँ की जावे, बल्कि यह सब अपनी श्रद्धा, शक्ति और रुचिपर निर्भर है—कोई एक द्रव्यसे पूजन करता है, कोई दोसे और कोई आठोंसे; कोई थोड़ा पूजन करता और थोड़ा समय लगाता है, कोई अधिक पूजन करता और अधिक समय लगाता है; एक समय जो एक द्रव्यसे पूजन करता है वा थोड़ा पूजन करता है दूसरे समय वही अष्टद्रव्यसे पूजन करने लगता है और बहुतसा समय लगाकर अधिक पूजन करता है—इसी प्रकार यह भी कोई नियम नहीं है कि मंदिरजीके उपकरणोंमें और मंदिरजीमें रक्खे हुए वस्त्रोंको पहिनकर ही नित्यपूजन किया जावे। हम अपने घरसे शुद्ध वस्त्र पहिनकर और शुद्ध बर्तनोंमें सामग्री बनाकर मंदिरजीमें ला सकते-हैं और खुशीके साथ पूजन कर सकते हैं। जो लोग ऐसा करनेके लिये

असमर्थ हैं या कभी किसी कारणसे ऐसा नहीं कर सकते हैं, वे मंदिरजीके उपकरण आदिसे अपना काम निकाल सकते हैं, इसीलिये मंदिरोंमें उनका प्रबंध रहता है। बहुतसे स्थानोंपर श्रावकोंके घर विद्यमान होते हुए भी, कमसे कम दो चार पूजाओंके यथासंभव नित्य किये जानेके लिये, मंदिरोंमें पूजन सामग्रीके रक्खे जानेकी जो प्रथा जारी है, उसको भी आज कलके जैनियोंके प्रमाद, शक्तिन्यूनता और उत्साहाभाव आदिके कारण एक प्रकारका जातीय प्रबंध कह सकते हैं, अन्यथा, शास्त्रोंमें इस प्रकारके पूजन सम्बन्धमें, आमतौरपर अपने घरसे सामग्री लेजाकर पूजन करनेका ही विधान पाया जाता है-जैसा कि ब्रह्मसूरिकृत त्रिवर्णाचारके निम्नलिखित वाक्यसे भी प्रगट है:—

"ततश्चैत्यालयं गच्छेत्सर्वभव्यप्रपूजितम्।
जिनादिपूजायोग्यानि द्रव्याण्यादाय भक्तितः॥"

—अ. ४-१९०।

अर्थात्—संध्यावन्दनादिके पश्चात् गृहस्थ, भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रादिके पूजन योग्य द्रव्योंको लेकर, समस्त भव्यजीवों द्वारा पूजित जो जिनमंदिर तहां जावे। भावार्थ-गृहस्थोंको जिनमंदिरमें पूजनके लिये पूजनोचित द्रव्य लेकर जाना चाहिये। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि विना द्रव्यके मंदिरजीमें जाना ही निषिद्ध है, जाना निषिद्ध नहीं है। क्योंकि यदि किसी अवस्थामें द्रव्य उपलब्ध नहीं है तो केवल भावपूजन भी हो सकता है। तथापि गृहस्थोंके लिये द्रव्यसे पूजन करनेकी अधिक मुख्यता है। इसीलिये नित्यपूजनका ऐसा मुख्य स्वरूप वर्णन किया है।

ऊपर नित्यपूजनका जो प्रधान स्वरूप वर्णन किया गया है, उसके अतिरिक्त, "जिनबिम्ब और जिनालय बनवाना, जिनमन्दिरके खर्चके लिये दानपत्र द्वारा ग्राम गृहादिकका मंदिरजीके नाम करदेना तथा दान देते समय मुनीश्वरोंका पूजन करना, यह सब भी नित्यपूजनमें ही दाखिल (परिगृहीत) है।" जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८ के निम्नलिखित वाक्योंसे प्रगट है:—

"चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत् ।
शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदाऽर्चनम् ॥ २८ ॥
या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी ।
स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः ॥ २९ ॥"

श्रीसागारधर्मामृतमें भी नित्यपूजनके सम्बंधमें समग्र ऐसा[2] ही वर्णन पाया जाता है, बल्कि इतना विशेष और मिलता है कि अपने घरपर या मंदिरजीमें त्रिकाल[3] देववन्दना—अरहंतदेवकी आराधना—करनेको भी नित्यपूजन कहते हैं। यथाः—

"प्रोक्तो नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना ।
पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वविभवाच्चैत्यादिनिर्मापणम् ॥
भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधादानं त्रिसंध्याश्रया ।
सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगम् ॥२-२५"

धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें, भी "त्रिसंध्यं देववन्दनम्" इस पदके द्वारा ९ वें अधिकारके श्लोक नं. २९ में, त्रिकाल देववन्दनाको नित्यपूजन वर्णन किया है। और त्रिकाल देववन्दना ही क्या, "बलि, अभिषेक (हवन), गीत, नृत्य, वादित्र, आरती और रथयात्रादिक जो कुछ भी नित्य और नैमित्तिकपूजनके विशेष हैं और जिनको भक्तपुरुष सम्पादन करते हैं, उन सबका नित्यादि पंच प्रकारके पूजनमें अन्तर्भाव निर्दिष्ट होनेसे, उनमेंसे, जो नित्य किये जाते हैं या नित्य किये जानेको हैं, वे

---

१ इन दोनों श्लोकोंका आशय वही है जो ऊपर अतिरिक्त शब्दके अनन्तर " " दिया गया है।

२ आदिपुराणके श्लोक नं. २७,२८,२९ के अनुसार।

३ आदिपुराणमें पूजनके अन्य चार भेदोंका वर्णन करनेके अनन्तर श्लोक नं. ३३ में त्रिकाल देववन्दनाका वर्णन "त्रिसंध्यासेवया समम्" इस पदके द्वारा किया है।

भी नित्यपूजनमें समाविष्ट हैं।" जैसा कि निम्नलिखित प्रमाणोंसे प्रगट हैः—

"बलिस्नपननाट्यादि नित्यं नैमित्तिकं च यत्।
भक्ताः कुर्वन्ति तेष्वेव तद्यथास्वं विकल्पयेत्॥"

—सागारधर्मा० अ० २, श्लो० २९।

"बलिस्नपनमित्यन्यत्रिसंध्यासेवया समम्।
उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम्॥"

—आदिपुराण० अ० ३८, श्लो० ३३।

ऊपरके इस कथनसे यह भी स्पष्टरूपसे प्रमाणित होता है कि अपने पूज्यके प्रति आदर सत्काररूप प्रवर्त्तनेका नाम ही पूजन है। पूजा, भक्ति, उपासना और सेवा इत्यादि शब्द भी प्रायः एकार्थवाची हैं और उसी एक आशय और भावके द्योतक हैं। इसप्रकार पूजनका स्वरूप समझकर किसी भी गृहस्थको नित्यपूजन करनेसे नहीं चूकना चाहिये। सबको आनंद और भक्तिके साथ नित्यपूजन अवश्य करना चाहिये।

शूद्राऽधिकार।

यहांपर, जिनके हृदयमें यह आशंका हो कि, शूद्र भी पूजन कर सकते हैं या नहीं? उनको समझना चाहिये कि जब तिर्यंच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये हैं तब शूद्र, जो कि मनुष्य हैं और तिर्यंचोंसे ऊंचा दर्जा रखते हैं, कैसे पूजनके अधिकारी नहीं हैं? क्या शूद्र जैनी नहीं हो सकते? या श्रावकके व्रत धारण नहीं कर सकते? जब शूद्रोंको यह सब कुछ अधिकार प्राप्त है और वे श्रावकके बारह व्रतोंको धारणकर ऊंचे दर्जेके श्रावक बन सकते हैं और हमेशासे शूद्र लोग जैनी ही नहीं; किन्तु ऊंचे दर्जेके श्रावक (क्षुल्लकतक) होते आये हैं, तब उनके लिये पूजनका निषेध कैसे हो सकता है? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजके वचनानुसार, जब विना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता, और

शूद्र लोग भी श्रावक जरूर होते हैं, तब उनको पूजनका अधिकार स्वतः सिद्ध है।

भगवानके समवसरणमें, जहां तिर्यंच भी जाकर पूजन करते हैं, वहां जिसप्रकार अन्य मनुष्य जाते हैं, उसीप्रकार शूद्रलोग भी जाते हैं और अपनी शक्तिके अनुसार भगवानका पूजन करते हैं। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें, महावीरस्वामीके समवसरणका वर्णन करते हुए, लिखा है—समवसरणमें जब श्रीमहावीरस्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया, तो उसको सुनकर बहुतसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग मुनि होगये और चारों वर्णोंके स्त्रीपुरुषोंने अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रोंने, श्रावकके बारह व्रत धारण किये। इतना ही नहीं, किन्तु उनकी पवित्रवाणीका यहांतक प्रभाव पड़ा कि कुछ तिर्यंचोंने भी श्रावकके व्रत धारण किये। इससे, पूजा-वन्दना और धर्मश्रवणके लिये शूद्रोंका समवसरणमें जाना प्रगट है। शूद्रोंके पूजन सम्बंधमें बहुतसी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। पुण्यास्रवकथाकोशमें लिखा है कि एक माली (शूद्र) की दो कन्याएं, जिनका नाम कुसुमावती और पुष्पवती था, प्रतिदिन एक एक पुष्प जिनमंदिरकी देहलीपर चढ़ाया करती थीं। एक दिन वनसे पुष्प लाते समय उनको सर्पने काट खाया और वे दोनों कन्याएँ मरकर, इस पूजनके फलसे सौधर्मस्वर्गमें देवी हुईं।" इसी शास्त्रमें एक–पशुचरानेवाले नीच कुली ग्वालेकी भी कथा लिखी है, जिसने सहस्रकूट चैत्यालयमें जाकर, चुपकेसे नहीं किन्तु राजा, सेठ और सुगुप्ति नामा मुनिराजकी उपस्थिति (मौजूदगी) में एक बृहत् कमल श्रीजिनदेवके चरणोंमें चढ़ाया और इस पूजनके प्रभावसे अगले ही जन्ममें महाप्रतापी राजा करकुंडु हुआ। यह कथा श्रीआराधनासारकथाकोशमें भी लिखी है। इस ग्रंथमें ग्वालेकी पूजन-विधिका वर्णन इसप्रकार किया है:—

"तदा गोपालकः सोऽपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः।
'भोः सर्वोत्कृष्ट! मे पद्मं ग्रहाणेदमिति' स्फुटम्॥१५॥

उक्त्वा जिनेंद्रपादाब्जोपरि क्षिप्त्वाशु पंकजम् ।
गतो, मुग्धजनानां च भवेत्सत्कर्म शर्मदम् ॥ १६ ॥"

करकंडुकथा

अर्थात्—जब सुगुप्तिमुनिके द्वारा ग्वालेको यह मालूम होगया कि, सबसे उत्कृष्ट जिनदेव ही हैं–तब उस ग्वालेने, श्रीजिनेंद्रदेवके सन्मुख खड़े होकर और यह कहकर कि 'हे सर्वोत्कृष्ट मेरे इस कमलको स्वीकार करो' वह कमल श्रीजिनदेवके चरणोंपर चढ़ा दिया और इसके पश्चात् वह ग्वाला मंदिरसे चला गया । ग्रन्थकार कहते हैं कि, भला काम (सत्कर्म) मूर्ख मनुष्योंको भी सुखका देनेवाला होता है । इसीप्रकार शूद्रोंके पूजन सम्बंधमें और भी बहुतसी कथाएँ हैं ।

कथाओंको छोड़कर जब वर्त्तमान समयकी ओर देखा जाता है, तब भी यही मालूम होता है कि, आज कल भी बहुतसे स्थानोंपर शूद्रलोग पूजन करते हैं । जो जैनी शूद्र हैं वा शूद्रोंका कर्म करते हुए जिनको पीढ़ियाँ बीत गईं, वे तो पूजन करते ही हैं; परन्तु बहुतसे ऐसे भी शूद्र हैं जो प्रगटपने वा व्यवहारमें जैनी न होते वा न कहलाते हुए भी, किसी प्रतिमा वा तीर्थस्थानके अतिशय (चमत्कार) पर मोहित होनेके कारण, उन स्थानोंपर बराबर पूजन करते हैं—चांदनपुर (महावीरजी), केसरियानाथ आदिक अतिशय क्षेत्रों और श्रीसम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थस्थानोंपर ऐसे शूद्रपूजकोंकी कमी नहीं है । ऐसे स्थानोंपर नीच ऊंच सभी जातियाँ पूजनको आती और पूजन करती हुई देखी जाती हैं । जिन लोगोंको चैतके मेलेपर चांदनपुर जानेका सुअवसर प्राप्त हुआ है, उन्होंने प्रत्यक्ष देखा होगा अथवा जिनको ऐसा अवसर नहीं मिला वे जाकर देख सकते हैं कि चैत्रशुक्ला चतुर्दशीसे लेकर तीन चार दिनतक कैसी कैसी नीच जातियोंके मनुष्य और कितने शूद्र, अपनी अपनी भाषाओंमें अनेक प्रकारकी जय बोलते, आनंदमें उछलते और कूदते, मंदिरके श्रीमंडपमें घुस जाते हैं और वहांपर अपने घरसे लाये हुए द्रव्यको चढ़ाकर तथा प्रदक्षिणा देकर मंदिरसे बाहर निकलते हैं । बल्कि वहां तो रथोत्सवके समय यहांतक होता है कि मंदिरका व्यासमाली,

जो चढ़ी हुई सामग्री लेनेवाला और निर्माल्य भक्षण करनेवाला ह, स्वयं वीरभगवानकी प्रतिमाको उठाकर रथमें विराजमान करता है।

यदि शूद्रोंका पूजन करना असत्कर्म (बुरा काम) होता और उससे उनको पाप बन्ध हुआ करता, तो पशुचरानेवाले नीचकुली ग्वालेको कमलके फूलसे भगवानकी पूजा करनेपर उत्तम फलकी प्राप्ति न होती और मालीकी लड़कियोंको पूजन करनेसे स्वर्ग न मिलता। इसीप्रकार शूद्रोंसे भी नीचापद धारण करनेवाले मेंडक जैसे तिर्यंच (जानवर) को पूजनके संकल्प और उद्यम मात्रसे देवगतिकी प्राप्ति न होती [क्योंकि जो काम बुरा है उसका संकल्प और उद्यम भी बुरा ही होता है अच्छा नहीं हो सकता] और हाथीको, अपनी सूंडमें पानी भरकर अभिषेक करने और कमलका फूल चढ़ाकर बाँबीमें स्थित प्रतिमाका नित्यपूजन करनेसे, अगले ही जन्ममें मनुष्यभवके साथ साथ राज्यपद और राज्य न मिलता। इससे प्रगट है कि शूद्रोंका पूजन करना असत्कर्म नही हो सकता, बल्कि वह सत्कर्म है। आराधनासारकथाकोशमें भी ग्वालेके इस पूजन कर्मको सत्कर्म ही लिखा है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए श्लोक नं. १६ के चतुर्थ पदसे प्रगट है।

इन सब बातोंके अतिरिक्त जैनशास्त्रोंमें शूद्रोंके पूजनके लिये स्पष्ट आज्ञा भी पाई जाती है। श्रीधर्मसंग्रहश्रावकाचारके ९ वें अधिकारमें लिखा है कि—

"यजनं याजनं कर्माऽध्ययनाऽध्यापने तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चेति षट्कर्माणि द्विजन्मनाम् ॥ २२५ ॥
यजनाऽध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुनः।
जातितीर्थप्रभेदेन द्विधा ते ब्राह्मणादयः ॥ २२६ ॥"

अर्थात्—ब्राह्मणोंके—पूजन करना, पूजन कराना, पढ़ना, पढ़ाना, दान देना, और दान लेना—ये छह कर्म हैं। शेप क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीन वर्णोंके पूजन करना, पढ़ना और दान देना-ये तीन कर्म हैं। और वे ब्राह्मणादिक जाति और तीर्थके भेदसे दो प्रकार हैं। इससे साफ प्रगट है

कि पूजन करना जिसप्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका धार्मिक कर्म है उसीप्रकार वह शूद्रोंका भी धार्मिक कर्म है।

इसी धर्मसंग्रहश्रावकाचारके ९ वें अधिकारके श्लोक नं. १४२ में, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवाले-के दो भेद वर्णन किये हैं—एक नित्यपूजन करनेवाला, जिसको पूजक कहते हैं। और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करनेवाला, जिसको पूजकाचार्य कहते हैं। इसके पश्चात् दो श्लोकोंमें, ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकको लक्ष्य करके, प्रथम भेद अर्थात् पूजकका स्वरूप इसप्रकार वर्णन किया है:—

"ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः ॥ १४३ ॥
जात्या कुलेन पूतात्मा शुचिर्बन्धुसुहृज्जनैः।
गुरूपदिष्टमंत्रेण युक्तः स्यादेष पूजकः ॥ १४४ ॥"

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंमेंसे किसी भी वर्णका धारक, जो—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, इसप्रकार सप्तशील व्रतकर सहित हो, सत्य और शौचका दृढ़तापूर्वक (निरतिचार) आचरण करनेवाला हो, सत्यवान् शौचवान् और दृढ़ाचारी हो, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पांच अव्रतों (पापों) से रहित हो, जाति और कुलसे पवित्र हो, बन्धु मित्रादिकसे शुद्ध हो और गुरु उपदेशित मंत्रसे युक्त हो वा ऐसे मंत्रसे जिसका संस्कार हुआ हो; वह उत्तम पूजक कहलाता है। इसीप्रकार पूजासार ग्रंथमें भी पूजकके उपर्युक्त दोनों भेदोंका कथन करके, निम्न लिखित दो श्लोकोंमें नित्य-पूजकका, उत्कृष्टापेक्षा, प्रायः समस्त यही स्वरूप वर्णन किया है। यथा:—

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽद्यः सुशीलवान्।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः ॥ १७ ॥

कुलेन जात्या संशुद्धो मित्रबन्ध्वादिभिः शुचिः ।
गुरूपदिष्टमंत्राढ्यः प्राणिबाधादिदूरगः ॥ १८ ॥"

ऊपरके इन दोनों ग्रंथोंके प्रमाणोंसे भली भांति स्पष्ट है कि, शूद्रोंको भी श्रीजिनेंद्रदेवके पूजनका अधिकार प्राप्त है और वे भी नित्यपूजक होते हैं। साथ ही इसके यह भी प्रगट है कि शूद्र लोग साधारण पूजक ही नहीं, बल्कि ऊंचे दर्जेके नित्यपूजक भी होते हैं।

यहांपर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ऊपर जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया-गया है वह पूजक मात्रका स्वरूप न होकर, ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका ही स्वरूप है वा उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन किया गया है, यह सब, किस आधा-रपर माना जावे? इसका उत्तर यह है कि–धर्मसंग्रहश्रावकाचारके श्लोक नं. १४४ में जो "एष" शब्द आया है वह उत्तमताका वाचक है। यह शब्द "एतद्" शब्दका रूप न होकर एक पृथक् ही शब्द है। वामन शिवराम आपटे कृत कोशमें इस शब्दका अर्थ अंग्रेजीमें desirable और to be desired किया है। संस्कृतमें इसका अर्थ प्रशस्त, प्रशंसनीय और उत्तम होता है। इसीप्रकार पूजासार ग्रंथके श्लोक नं. २८ में जहां-पर पूजक और पूजकाचार्यका स्वरूप समाप्त किया है वहांपर, अन्तिम वाक्य यह लिखा है कि, "एवं लक्षणवानार्यो जिनपूजासु शस्यते।" (अर्थात् ऐसे लक्षणोंसे लक्षित आर्यपुरुष जिनेन्द्रदेवकी पूजामें प्रशंस-नीय कहा जाता है।) इस वाक्यका अन्तिम शब्द "शस्यते" साफ़ बतला रहा है कि ऊपर जो स्वरूप वर्णन किया है वह प्रशस्त और उत्तम पूजकका ही स्वरूप है। दोनों ग्रंथोंमें इन दोनों शब्दोंसे साफ़ प्रकट है कि यह स्वरूप उत्तम पूजकका ही वर्णन किया गया है। परन्तु यदि ये दोनों शब्द (एष और शस्यते) दोनों ग्रंथोंमें न भी होते, या थोड़ी देरके लिये इनको गौण किया जाय तब भी, ऊपर कथन किये हुए पूजनसिद्धान्त, आचार्योंके वाक्य और नित्यपूजनके स्वरूपपर विचार करनेसे, यही नतीजा निकलता है कि, यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकको लक्ष्य करके ही लिखा गया है। लक्षणसे इसका कुछ सम्बंध नहीं है। क्योंकि लक्षण लक्षके सर्व देशमें व्यापक होता है। ऊपरका स्वरूप ऐसा नहीं है जो साधारणसे

साधारण पूजकमें भी पाया जावे, इसलिये वह कदापि पूजकका लक्षण नहीं हो सकता। यदि ऐसा न माना जावे अर्थात्–इसको ऊंचे दर्जेके नित्य-पूजकका स्वरूप स्वीकार न किया जावे बल्कि, नित्य पूजक मात्रका स्वरूप वा दूसरे शब्दोंमें पूजकका लक्षण माना जावे तो इससे आज कलके प्रायः किसी भी जैनीको पूजनका अधिकार नहीं रहता। क्योंकि सप्त शीलव्रत और हिंसादिक पंच पापोंके त्याग रूप पंच अणुव्रत, इसप्रकार श्रावकके बारह व्रतोंका पूर्णतया पालन दूसरी (व्रत) प्रतिमामें ही होता है और वर्त्तमान जैनियोंमें इस प्रतिमाके धारक, दो चार त्यागियोंको छोड़कर, शायद कोई विरले ही निकलें! इसके सिवाय जैनसिद्धान्तोंसे बड़ा भारी विरोध आता है। क्योंकि जैनशास्त्रोंमें मुख्यरूपसे श्रावकके तीन भेद वर्णन किये हैं—

१ पाक्षिक, २ नैष्ठिक और ३ साधक। श्रावकधर्म, जिसका पक्ष और प्रतिज्ञाका विषय है अर्थात्–श्रावकधर्मको जिसने स्वीकार कर रक्खा है और उसपर आचरण करना भी प्रारंभ कर दिया है; परन्तु उस धर्मका निर्वाह जिससे यथेष्ट नहीं होता, उस प्रारब्ध देश संयमीको पाक्षिक कहते हैं। जो निरतिचार श्रावकधर्मका निर्वाह करनेमें तत्पर है उसको नैष्ठिक कहते हैं और जो आत्मध्यानमें तत्पर हुआ समाधिपूर्वक मरण साधन करता है उसको साधक कहते हैं *। नैष्ठिकश्रावकके दर्शनिक, व्रतिक आदि ११ भेद हैं जिनको ११ प्रतिमा भी कहते हैं। व्रतिक श्रावक अर्थात्–दूसरी प्रतिमावालेसे पहली प्रतिमावाला, और पहली प्रतिमावालेसे पाक्षिक श्रावक, नीचे दर्जेपर होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि पाक्षिकश्रावक, मूल भेदोंकी अपेक्षा, दर्शनिकसे एक और व्रतिकसे दो दर्जे नीचे होता है अथवा उसको सबसे घटिया दर्जेका श्रावक कहते हैं। परन्तु शास्त्रोंमें व्रतिकके समान, दर्शनिकहीको नहीं किन्तु, पाक्षिकको भी पूजनका अधिकारी वर्णन किया है, जैसा कि धर्मसंग्रहश्रावका-

---

* "पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक् ॥ २० ॥
—सागारधर्मामृते।

चार (अ० ५) में निम्नलिखित श्लोकों द्वारा उनके स्वरूप कथनसे प्रगट हैः—

"सम्यग्दृष्टिः सातिचारमूलाणुव्रतिपालकः।
अर्चादिनिरतस्त्वग्रपदं कांक्षी हि पाक्षिकः॥ ४॥"
"पाक्षिकाचारसम्पत्या निर्मलीकृतदर्शनः।
विरक्तो भवभोगाभ्यामर्हदादिपदार्चकः॥ १४॥
मलान्मूलगुणानां निर्मूलयन्नग्रिमोत्सुकः।
न्याय्यां वार्त्तां वपुःस्थित्यै दधद्दर्शनिको मतः॥ १५॥

ऊपरके श्लोकोंमें, "अर्चादिनिरतः" (पूजनादिमें तत्पर) इस पदसे, पाक्षिकश्रावकके लिये पूजन करना जरूरी रक्खा है। और "अर्हदादि-पदाऽर्चकः" (अर्हन्तादिकके चरणोंका पूजनेवाला) इस पदसे, दर्शनिक श्रावकके लिये पूजन करना आवश्यक कर्म बतलाया है। सागारधर्मामृतके दूसरे अध्यायमें, जिसका अन्तिम काव्य, "सैषः प्राथमकल्पिकः..." इत्यादि है, पाक्षिकश्रावकका सदाचारवर्णन किया है। उसमें भी, "यजेत देवं सेवेत गुरून्..." इत्यादि श्लोकों द्वारा, पाक्षिकश्रावकके लिये नित्यपूजन करनेका विधान किया है। भगवज्जिनसेनाचार्य भी आदिपुराणमें निम्न लिखित श्लोक द्वारा सूचित करते हैं कि, पूजन करना प्राथमकल्पिकी (पाक्षिकी) वृत्ति अर्थात् पाक्षिकश्रावकका कर्म वा श्रावक मात्रका प्रथम कर्म है। यथाः—

"एवं विधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम्।
विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम्॥"
प. ३८–३४

यह तो हुई पाक्षिकश्रावककी बात, अब अविरतसम्यग्दृष्टिको लीजिये अर्थात्–ऐसे सम्यग्दृष्टिको लीजिये, जिसके किसी प्रकारका कोई व्रत होना तो दूर रहा, व्रत वा संयमका आचरण भी अभीतक जिसने प्रारंभ नहीं किया। जैनशास्त्रोंमें ऐसे अव्रतीको भी पूजनका अधिकारी

वर्णन किया है। प्रथमानुयोगके ग्रंथोंसे प्रगट है कि, स्वर्गादिकके प्रायः सभी देव, देवांगना सहित, समवसरणादिमें जाकर साक्षात् श्रीजिनेंद्र-देवका पूजन करते हैं, नंदीश्वर द्वीपादिकमें जाकर जिनबिम्बोंका अर्चन करते हैं और अपने विमानोंके चैत्यालयोंमें नित्यपूजन करते हैं। जगह जगह शास्त्रोंमें नियमपूर्वक उनके पूजनका विधान पाया जाता है। परन्तु वे सब अव्रती ही होते हैं-उनके किसी प्रकारका कोई व्रत नहीं होता। देवोंको छोड़कर अव्रती मनुष्योंके पूजनका भी कथन शास्त्रोंमें स्थान स्थान-पर पाया जाता है। समवसरणमें अव्रती मनुष्य भी जाते हैं और जिन-वाणीको सुनकर उनमेंसे बहुतसे व्रत ग्रहण करते हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए हरिवंशपुराणके कथनसे प्रगट है। महाराजा श्रेणिक भी अव्रती ही थे, जो निरन्तर श्रीवीरजिनेंद्रके समवसरणमें जाकर भगवानका साक्षात् पूजन किया करते थे। और जिन्होंने अपनी राजधानीमें, स्थान स्थानपर अनेक जिनमंदिर बनवाये थे, जिसका कथन हरिवंशपुराणा-दिकमें मौजूद है। सागारधर्मामृतमें पूजनके फलका वर्णन करते हुए साफ़ लिखा है कि:—

"दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः।
श्रयन्त्यहंपूर्विकया किं पुनर्व्रतभूपितम्॥ ३२॥"

अर्थात्—अर्हंतका पूजन करनेवाले अविरतसम्यग्दृष्टिको भी, पूजा, धन, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल और परिजनादिक सम्पदाएँ-मैं पहले, ऐसी शी-घ्रता करती हुई प्राप्त होती हैं। और जो व्रतसे भूपित है उसका कहना ही क्या? उसको वे सम्पदाएँ और भी विशेषताके साथ प्राप्त होती हैं।

इससे यही सिद्ध हुआ कि-धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासारमें वर्णित पूजकके उपर्युक्त स्वरूपको पूजकका लक्षण माननेसे, जो व्रतीश्रावक दूसरी प्रतिमाके धारक ही पूजनके अधिकारी ठहरते थे, उसका आगमसे विरोध आता है। इसलिये वह स्वरूप पूजक मात्रका स्वरूप नहीं है किन्तु ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकका ही स्वरूप है। और इसलिये शूद्र भी ऊंचे दर्जेका नित्यपूजक हो सकता है।

यहांपर इतना और भी प्रगट कर देना जरूरी है कि, जैन शास्त्रोंमें आच-

रण सम्बंधी कथनशैलीका लक्ष्य प्रायः उत्कृष्ट ही रक्खा गया मालूम होता है। प्रत्येक ग्रंथमें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यरूप समस्त भेदोंका वर्णन नहीं किया गया है। किसी किसी ग्रंथमें ही यह विशेष मिलता है। अन्यथा जहां तहां सामान्यरूपसे उत्कृष्टका ही कथन पाया जाता है। इसके कारणोंपर जहांतक विचार किया जाता है तो यही मालूम होता है कि, प्रथम तो उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है। दूसरे समस्त भेद-प्रभेदोंका वर्णन करनेसे ग्रंथका विस्तार बहुत ज्यादह बढ़ता है और इस ग्रंथ-विस्तारका भय हमेशा ग्रंथकर्त्ताओंको रहता है। क्योंकि विस्तृत ग्रंथके सम्बंधमें पाठकोंमें एक प्रकारकी अरुचिका प्रादुर्भाव हो जाता है और सर्व साधारणकी प्रवृत्ति उसके पठन-पाठनमें नहीं होती। तथा ऐसे ग्रंथका रचना भी कोई आसान काम नहीं है—समस्तविषयोंका एक ग्रंथमें समावेश करना बढा ही दुःसाध्य कार्य है। इसके लिये अधिक काल, अधिक अनुभव और अधिक परिश्रमकी सविशेषरूपसे आवश्यक्ता है। तीसरे ग्रंथोंकी रचना प्रायः ग्रंथकारोंकी रुचिपर ही निर्भर होती है—कोई ग्रंथकार संक्षेपप्रिय होते हैं और कोई विस्तारप्रिय-उनकी इच्छा है कि वे चाहे, अपने ग्रंथमें, जिस विषयको मुख्य रक्खें और चाहे, जिस विषयको गौण। जिस विषयको ग्रंथकार अपने ग्रंथमें मुख्य रखता है उसका प्रायः विस्तारके साथ वर्णन करता है। और जिस विषयको गौण रखता है उसका सामान्यरूपसे उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन कर देता है। यही कारण है कि कोई विषय एक ग्रंथमें विस्तारके साथ मिलता है और कोई दूसरे ग्रंथमें। बल्कि एक विषयकी भी कोई बात किसी ग्रंथमें मिलती है और कोई किसी ग्रंथमें। दृष्टान्तके तौरपर पूजनके विषयहीको लीजिये—स्वामी समन्तभद्राचार्यने, रत्नकरंडश्रावकाचारमें, देवाधिदेव चरणे..." तथा "अर्हच्चरणसपर्या..." इन, पूजनके प्रेरक और पूजन-फल प्रतिपादक, दो श्लोकोंके सिवाय इस विषयका कुछ भी वर्णन नहीं किया। श्रीपद्मनन्दिआचार्यने, पद्मनंदिपंचविंशतिकामें, गृहस्थियोंके लिये पूजनकी खास जरूरत वर्णन की है और उसपर जोर दिया है। परन्तु पूजन और पूजकके भेदोंका कुछ वर्णन नहीं किया। वसुनन्दिआचार्यने, वसुनन्दिश्रावकाचारमें, भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें, इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन

किया है। इसीप्रकार सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार वगैरह ग्रंथोमें भी इसका कुछ कुछ विशेप वर्णन पाया जाता है; परन्तु पूरा कथन किसी भी एक ग्रंथमें नहीं मिलता। कोई बात किसीमें अधिक है और कोई किसीमें। इसीप्रकार ग्यारह प्रतिमाओंके कथनको लीजिये–बहुतसे ग्रंथोंमें इनका कुछ भी वर्णन नहीं किया, केवल नाम मात्र कथन कर दिया वा प्रतिमाका भेद न कहकर सामान्य रूपसे श्रावकके १२ व्रतोंका वर्णन कर दिया है। रत्नकरंडश्रावकाचारमें इनका बहुत सामान्यरूपसे कथन किया गया है। वसुनन्दिश्रावकाचारमें उससे कुछ अधिक वर्णन किया गया है। परन्तु सागारधर्मामृतमें, अपेक्षाकृत, प्रायः अच्छा खुलासा मिलता है। ऐसी ही अवस्था अन्य और भी विषयोंकी समझ लेनी चाहिए। अब यहांपर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ग्रंथकार जिस विषयको गौण करके उसका सामान्य कथन करता है वह उसका उत्कृष्टकी अपेक्षासे क्यों कथन करता है, जघन्यकी अपेक्षासे क्यों नहीं करता? इसका उत्तर यह है कि, प्रथमतो उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है। जबतक उत्कृष्ट दर्जेके आचरणमें अनुराग नहीं होता तबतक नीचे दर्जेके आचरणको आचरण ही नहीं कहते, + इससे उसके लिये साधन अवश्य चाहिये। दूसरे ऊंचे दर्जेके आचरणमें किंचित् भी स्खलित होनेसे स्वतः ही नीचे दर्जेका आचरण हो जाता है। संसारीजीवोंकी प्रवृत्ति और उनके संस्कार ही प्रायः उनको नीचेकी ओर ले जाते हैं, उसके लिये नियमित रूपसे किसी विशेष उपदेशकी जरूरत नहीं। तीसरे ऊंचे दर्जेको

+ सागारधर्मामृतके प्रथम श्लोककी टीकामें लिखा है, "यतिधर्मानुरागरहितानामागारिणां देशविरतेरप्यसम्यक्रूपत्वात्। सर्वविरतिलालसः खलु देशविरतिपरिणामः।" अर्थात् यतिधर्ममें अनुराग रहित गृहस्थियोंका 'देशव्रत' भी मिथ्या है। सकलविरतिमें जिसकी लालसा है वही देशविरतिके परिणामका धारक हो सकता है। इससे भी यही नतीजा निकलता है कि, जघन्य चारित्रका धारक भी कोई तब ही कहलाया जा सकता है जब वह ऊंचे दर्जेके आचरणका अनुरागी हो और शक्ति आदिकी न्यूनतासे उसको धारण न कर सकता हो।

छोड़कर अक्रमरूपसे नीचे दर्जेका ही उपदेश देनेवालेको जैनशासनमें दुर्बुद्ध और दण्डनीय कहा है, जैसा कि स्वामी अमृतचंद्रआचार्यके निम्न लिखित वाक्योंसे ध्वनित है:—

"यो मुनिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८ ॥
अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि संप्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥"

—पुरुषार्थसिद्ध्युपायः।

यह शासन दंड भी संक्षेप और सामान्य लिखनेवालोंको उत्कृष्टकी अपेक्षासे कथन करनेमें कुछ कम प्रेरक नहीं है। इन्हीं समस्त कारणोंसे आचरण सम्बंधी कथनशैलीका प्रायः उत्कृष्टाऽपेक्षासे होना पाया जाता है। किसी किसी ग्रंथमें तो यह उत्कृष्टता यहांतक बढ़ी हुई है कि साधारण पूजकका स्वरूप वर्णन करना तो दूर रहा, ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका भी स्वरूप वर्णन नहीं किया है। बल्कि पूजकाचार्यका ही स्वरूप लिखा है। जैसा कि वसुनन्दिश्रावकाचारमें, नित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर, पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) का ही स्वरूप लिखा है। इसीप्रकार एकसंधिभट्टारककृत जिनसंहितामें पूजकाचार्यका ही स्वरूप वर्णन किया है। परन्तु इस संहितामें इतनी विशिष्टता और है कि, पूजक शब्दकर ही पूजकाचार्यका कथन किया है। यद्यपि 'पूजक' शब्दकर पूजक (नित्यपूजक) और पूजकाचार्य (प्रतिष्ठादिविधान करनेवाला पूजक) दोनोंका ग्रहण होता है—जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए पूजासार ग्रंथके, "पूजकः पूजकाचार्यः इति द्वेधा स पूजकः," इस वाक्यसे प्रगट है—तथापि साधारण ज्ञानवाले मनुष्योंको इससे भ्रम होना संभव है। अतः यहांपर यह बतला देना ज़रूरी है कि उक्त जिनसंहितामें जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमें पूजकाचार्यका ही स्वरूप है। वह स्वरूप इस संहिताके तीसरे परिच्छेदमें इसप्रकार लिखा है!—

"अथ वक्ष्यामि भूपाल! शृणु पूजकलक्षणम्।
लक्षितं भगवद्दिव्यवचस्यखिलगोचरे ॥ १ ॥

त्रैवर्णिकोऽभिरूपाङ्गः सम्यग्दृष्टिरणुव्रती ।
चतुरः शौचवान्विद्वान् योग्यः स्याज्जिनपूजने ॥ २ ॥
न शूद्रः स्यान्नदुर्दृष्टिर्न पापाचारपण्डितः ।
न निकृष्टक्रियावृत्तिर्नातंकपरिदूषितः ॥ ३ ॥
नाऽधिकाङ्गो न हीनाङ्गो नाऽतिदीर्घो न वामनः ।
नाऽविदग्धो न तन्द्रालुर्नाऽतिवृद्धो न बालकः ॥ ४ ॥
नाऽतिलुब्धो न दुष्टात्मा नाऽतिमानी न मायिकः ।
नाऽशुचिर्न विरूपाङ्गो नाऽजानन् जिनसंहिताम् ॥५॥
निषिद्धः पुरुषो देवं यद्यर्चेत् त्रिजगत्प्रभुम् ।
राजराष्ट्रविनाशः स्यात्कर्तृकारकयोरपि ॥ ६ ॥
तस्माद्यत्नेन गृह्णीयात्पूजकं त्रिजगद्गुरोः ।
उक्तलक्षणनेवाऽऽर्यः कदाचिदपि नाऽपरम् ॥ ७ ॥

"यदीन्द्रवृन्दाऽर्चितपादपंकजं
जिनेश्वरं प्रोक्तगुणः समर्चयेत् ।
नृपश्च राष्ट्रं च सुखास्पदं भवेत्
तथैव कर्त्ता च जनश्च कारकः ॥ ८ ॥

भावार्थ इसका यह है कि, "हे राजन्, मैं अव श्रीजिनभगवानके वचनानुसार पूजकका लक्षण कहता हूं, उसको तुम सुनो । "जो तीनों वर्णोंमेंसे किसी वर्णका धारक हो, रूपवान हो, सम्यग्दृष्टि हो, पंच अणुव्रतका पालन करनेवाला हो, चतुर हो, शौचवान् हो और विद्वान् हो वह जिनदेवकी पूजा करनेके योग्य होता है । (परन्तु) शूद्र, मिथ्यादृष्टि, पापाचारमें प्रवीण, नीचक्रिया तथा नीचकर्म करके आजीविका करनेवाला, रोगी, अधिक अंगवाला, अंगहीन, अधिक लम्बेकद्का, वहुत छोटेकद्का (वामना), भोला वा मूर्ख, निद्रालु वा आलसी, अतिवृद्ध, वालक,

अतिलोभी, दुष्टात्मा, अतिमानी, मायाचारी, अपवित्र, कुरूप और जिन-संहिताको न जाननेवाला पूजन करनेके योग्य नहीं होता है। यदि निषिद्ध पुरुष भगवानका पूजन करे तो राजा और देशका तथा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोंका नाश होता है। इसलिये पूजन करानेवालेको-यत्नके साथ जिनेंद्रदेवका पूजक ऊपर कहे हुए लक्षणोंवाला ही ग्रहण करना चाहिये--दूसरा नहीं। यदि ऊपर कहे हुए गुणोंवाला पूजक, इन्द्र समूहकर वंदित श्रीजिनदेवके चरणकमलकी पूजा करे, तो राजा और देश तथा पूजन करनेवाला और करानेवाला सब सुखके भागी होते हैं।"

अब यहांपर विचारणीय यह है कि, यह उपर्युक्त स्वरूप साधारण-नित्यपूजकका है या ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका अथवा यह स्वरूप पूजकाचार्यका है। साधारण नित्यपूजकका स्वरूप हो नहीं सकता। क्योंकि ऐसा माननेपर आगमसे विरोधादिक समस्त वही दोष यहां भी पूर्ण रूपसे घटित होते हैं, जो कि धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासारमें वर्णन किये हुए ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकके स्वरूपको नित्यपूजक मात्रका स्वरूप स्वीकार करनेपर विस्तारके साथ ऊपर दिखलाये गये हैं। बल्कि इस स्वरूपमें कुछ बातें उससे भी अधिक हैं, जिनसे और भी अनेक प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित होती हैं और जो विस्तार भयसे यहां नहीं लिखीं जातीं। इस स्वरूपके अनुसार जो जैनी रूपवान् नहीं है, विद्वान् नहीं है, चतुर नहीं है अर्थात् भोला वा मूर्ख है, जो जिनसंहिताको नहीं जानता, जिसका कद अधिक लम्बा या छोटा है, जो बालक है या अतिवृद्ध है, जो पापके काम करना जानता है और जो अति-मानी, मायाचारी और लोभी है, वह भी पूजनका अधिकारी नहीं ठहरता। इसको साधारण नित्यपूजकका स्वरूप माननेसे पूजनका मार्ग और भी अधिक इतना तंग (संकीर्ण) हो जाता है कि वर्तमान १३ लाख जैनियोंमें शायद कोई बिरला ही जैनी ऐसा निकले जो इन समस्त लक्षणोंसे सुसम्पन्न हो और जो जिनदेवका पूजन करनेके योग्य समझा जावे। वास्तवमें भक्तिपूर्वक जो नित्यपूजन किया जाता है उसके लिये इन बहुतसे विशेषणोंकी आवश्यकता नहीं है, यह ऊपर कहे हुए नित्यपूजन-के स्वरूपसे ही प्रगट है। अतः आगमसे विरोध आने तथा पूजन

सिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपसे विरुद्ध पड़नेके कारण यह स्वरूप साधारण नित्य पूजकका नहीं हो सकता । इसी प्रकार यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकका भी नहीं हो सकता । क्योंकि ऊंचे दर्जेके नित्य-पूजकका जो स्वरूप धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रंथोंमें वर्णन किया है और जिसका कथन ऊपर आचुका है, उससे इस स्वरूपमें बहुत कुछ विलक्षणता पाई जाती है । यहांपर अन्य बातोंके सिवा त्रैवर्णिक-को ही पूजनका अधिकारी वर्णन किया है; परन्तु ऊपर अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया जाचुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों ही वर्णके मनुष्य पूजन कर सकते हैं और ऊंचे दर्जेके नित्यपूजक होसकते हैं । इसलिये यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकतक ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि उसकी सीमासे बहुत आगे बढ़ जाता है ।

दूसरे यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि ऊंचा दर्जा हमेशा नीचे दर्जेकी और नीचा दर्जा ऊंचे दर्जेकी अपेक्षासे ही कहा जाता है । जब एक दर्जेका मुख्य रूपसे कथन किया जाता है तब दूसरा दर्जा गौण होता है, परन्तु उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता । जैसा कि सकलचारित्र (महाव्रत) का वर्णन करते हुए देशचारित्र (अणुव्रत) और देशचा-रित्रका कथन करते समय सकलचारित्र गौण होता है; परन्तु उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता अर्थात् यह नहीं कहा जाता कि जिसमें महाव्रतीके लक्षण नहीं वह व्रती ही नहीं हो सकता । व्रती वह जरूर हो सकता है; परन्तु महाव्रती नहीं कहला सकता । इससे यह सिद्ध होता है कि यदि ग्रंथकार महोदयके लक्ष्यमें यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकका ही होता, तो वे कदापि साधारण (नीचे दर्जेके) नित्य पूजकका सर्वथा निषेध न करते—अर्थात्, यह न कहते कि इन लक्षणोंसे रहित दूसरा कोई पूजक होनेके योग्य ही नहीं या पूजन करनेका अधिकारी नहीं । क्योंकि दूसरा नीचे दर्जेवाला भी पूजक होता है और वह नित्यपूजन कर सकता है । यह दूसरी बात है कि वह कोई विशेष नैमित्तिक पूजन न कर सकता हो । परन्तु ग्रंथकार महोदय, "उक्तलक्षणामेवार्यैः कदाचिदपि नाऽपरम्" इस सप्तम श्लोकके उत्तरार्धद्वारा स्पष्टरूपसे उक्त लक्षण रहित दूसरे मनु-ष्यके पूजकपनेका निषेध करते हैं, बल्कि छट्ठे श्लोकमें यहांतक लिखते हैं

कि यदि निषिद्ध (उक्तलक्षण रहित) पुरुष पूजन कर ले, तो राजा, देश, पूजन करनेवाला, और करानेवाला सब नाशको प्राप्त हो जावेंगे । इससे प्रगट है कि उन्होंने यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकको भी लक्ष्य करके नहीं लिखा है। भावार्थ, इस स्वरूपका किसी भी प्रकारके नित्यपूजकके साथ नियमित सम्बन्ध (लज़ूम) न होनेसे, यह किसी भी प्रकारके नित्य पूजकका स्वरूप या लक्षण नहीं है। वल्कि उस नैमित्तिक पूजनविधानके कर्तासे सम्बन्ध रखता है जिस पूजनविधानमें पूजन करनेवाला और होता है और उसका करानेवाला अर्थात् उस पूजनविधानके लिये द्रव्यादि खर्च करानेवाला दूसरा होता है। क्योंकि स्वयं उपर्युक्त श्लोकोंमें आये हुए, "कर्तृकार-कयोः" "गृह्णीयात्" और "तथैव कर्त्ता च जनश्च कारकः" इन प-दोंसे भी यह वात पाई जाती है। "यत्नेन गृह्णीयात् पूजकं," "उक्त-लक्षणमेवार्यः," ये पद साफ़ वतला रहे हैं कि यदि यह वर्णन नित्य पूजकका होता तो यह कहने वा प्रेरणा करनेकी ज़रूरत नहीं थी कि पूज-नविधान करानेवालेको तलाश करके उक्त लक्षणोंवाला ही पूजक (पूजन-विधान करनेवाला) ग्रहण करना चाहिये, दूसरा नहीं । इसीप्रकार पूजन-फलवर्णनमें, "कर्तृकारकयोः" इत्यादि पदोंद्वारा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोंका भिन्न भिन्न निर्देश करनेकी भी कोई ज़रूरत नहीं थी; परन्तु चूंकि ऐसा किया गया है, इससे स्वयं ग्रंथकारके वाक्योंसे भी प्रगट है कि यह नित्यपूजकका स्वरूप या लक्षण नहीं है । तब यह स्व-रूप किसका है ? इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि पूजकके जो मुख्य दो भेद वर्णन किये गये हैं—१ एक नित्यपूजन करनेवाला और २ दूसरा प्रतिष्ठादिविधान करनेवाला–उनमेंसे यह स्वरूप प्रतिष्ठादिवि-धान करनेवाले पूजकका ही होसकता है, जिसको प्रतिष्ठाचार्य, पूजका-चार्य और इन्द्र भी कहते हैं। प्रतिष्ठादि विधानमें ही प्रायः ऐसा होता है कि विधानका करनेवाला तो और होता है और उसका करानेवाला दूसरा। तथा ऐसे ही विधानोंका शुभाशुभ असर कथंचित् राजा, देश, नगर और करानेवाले आदिपर पड़ता है। प्रतिष्ठाविधानमें प्रतिमाओंमें मंत्रद्वारा अ-र्हतादिककी प्रतिष्ठा की जाती है। अतः जिस मनुष्यके मंत्रसामर्थ्यसे प्रति-माएँ प्रतिष्ठित होकर पूजने योग्य होती हैं वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं

होसकता। वह कोई ऐसा ही प्रभावशाली, माननीय, सर्वगुणसम्पन्न असाधारण व्यक्ति होना चाहिये।

इन सबके अतिरिक्त, पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका जो स्वरूप, **धर्मसंग्रहश्रावकाचार, पूजासार** और **प्रतिष्ठासारोद्धार** आदिक जैनशास्त्रोंमें स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है उससे इस स्वरूपकी प्रायः सब बातें मिलती हैं। जिससे भलेप्रकार निश्चित होता है कि यह स्वरूप प्रतिष्ठादिविधान करनेवाले पूजक अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्यसे ही सम्बन्ध रखता है। यद्यपि इस निबन्धमें पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप विवेचनीय नहीं है, तथापि प्रसंगवश यहांपर उसका किंचित् दिग्दर्शन करादेना ज़रूरी है ताकि यह मालूम करके कि दूसरे शास्त्रोंमें भी प्रायः यही स्वरूप प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्यका वर्णन किया है, इस विषयमें फिर कोई संदेह बाक़ी न रहे। सबसे प्रथम **धर्मसंग्रहश्रावकाचार**हीको लीजिये। इस ग्रंथके ९ वें अधिकारमें, नित्यपूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर, श्लोक नं. १४५ से १५२ तक आठ श्लोकोंमें पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं:—

"इदानीं पूजकाचार्यलक्षणं प्रतिपाद्यते।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो नानालक्षणलक्षितः॥ १४५॥
कुलजात्यादिसंशुद्धः सद्दृष्टिर्देशसंयमी।
वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्यः श्रुतबहुश्रुतः॥ १४६॥
ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गंभीरो विनयान्वितः।
शौचाचमनसोत्साहो दानवान्कर्मकर्मठः॥ १४७॥
साङ्गोपाङ्गयुतः शुद्धो लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः।
स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोगः सत्क्रियारतः॥ १४८॥
वारिमंत्रव्रतस्नातः प्रोषधव्रतधारकः।
निरभिमानी मौनी च त्रिसंध्यं देववन्दकः॥ १४९॥
श्रावकाचारपूतात्मा दीक्षाशिक्षागुणान्वितः।
क्रियाषोडशभिः पूतो ब्रह्मसूत्रादिसंस्कृतः॥ १५०॥

न हीनाङ्गो नाऽधिकाङ्गो न प्रलम्बो न वामनः ।
न कुरूपी न मूढात्मा न वृद्धो नातिबालकः ॥ १५१ ॥
न क्रोधादिकषायाढ्यो नार्थार्थी व्यसनी न च ।
नान्त्यास्त्रयो न तावाद्यौ श्रावकेषु न संयमी ॥ १५२॥"

इन उपर्युक्त पूजकाचार्यस्वरूपप्रतिपादक श्लोकोंमें जो—"ब्राह्मण-(ब्राह्मण हो), क्षत्रियः (क्षत्रिय हो), वैश्यः (वैश्य हो), नानालक्षणलक्षितः (शरीरसे सुन्दर हो), सद्दृष्टिः (सम्यग्दृष्टि हो), देशसंयमी (अणुव्रती हो), जिनागमस्य वेत्ता (जिनसंहिता आदि जैनशास्त्रोंका जाननेवाला हो), अनालस्यः (आलस्य वा तन्द्रारहित हो), वाग्मी (चतुर हो), विनयान्वितः (मानकषायके अभावरूप विनयसहित हो), शौचाचमनसोत्साहः (शौच और आचमन करनेमें उत्साहवान् हो), साङ्गोपाङ्गयुतः (ठीक अङ्गोपाङ्गका धारक हो), शुद्धः (पवित्र हो), लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः (लक्ष्य और लक्षणका जाननेवाला बुद्धिमान् हो), स्वदारी ब्रह्मचारी वा (स्वदारसंतोषी हो या अपनी स्त्रीका भी त्यागी हो अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रतके जो दो भेद हैं उसमेंसे किसी भेदका धारक-हो), नीरोगः (रोगरहित हो), सत्क्रियारतः (नीची क्रियाके प्रतिकूल ऊंची और श्रेष्ठ क्रिया करनेवाला हो), वारिमंत्रव्रतस्नातः (जलस्नान, मंत्रस्नान और व्रतस्नानकर पवित्र हो), निरभिमानी (अभिमानरहित हो), न हीनाङ्गः (अंगहीन न हो), नाऽधिकाङ्गः (अधिक अंगका धारक न हो), न प्रलम्बः (लम्बे क़दका न हो), न वामनः (छोटे-क़दका न हो), न कुरूपी (बदसूरत न हो), न मूढात्मा (मूर्ख न हो), न वृद्धः (बूढ़ा न हो), नाऽतिबालकः (अति बालक न हो), न क्रोधादिकषायाढ्यः (क्रोध, मान, माया, लोभ, इन कषायोंमेंसे किसी कषायका धारक न हो), नार्थार्थी (धनका लोभी तथा धन लेकर पूजन करनेवाला न हो), न च व्यसनी (और पापाचारी न हो),"—इत्यादि विशेषणपद आये हैं, उनसे प्रगट है कि उपर्युक्त जिनसंहितामें जो विशेषण पूजकके दिये हैं वे सब यहांपर साफ़ तौरसे पूजकाचार्यके वर्णन किये हैं। बल्कि श्लो० नं. १५१ तो जिनसंहिताके श्लोक नं. ४

से प्रायः यहांतक मिलता जुलता है कि एकको दूसरेका रूपान्तर कहना चाहिये । इसीप्रकार निम्नलिखित तीन श्लोकोंमें जो ऐसे पूजकके द्वारा कियेहुए पूजनका फल वर्णन किया है वह भी जिनसंहिताके श्लोक नं. ६ और ८ से बिलकुल मिलता जुलता है । यथाः—

"ईदृग्दोषभृदाचार्यः प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्र चेत् ।
तदा राष्ट्रं पुरं राज्यं राजादिः प्रलयं व्रजेत् ॥ १५३ ॥
कर्ता फलं न चाप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम् ।
ततस्तल्लक्षणश्रेष्ठः पूजकाचार्य इष्यते ॥ १५४ ॥
पूर्वोक्तलक्षणैः पूर्णः पूजयेत्परमेश्वरम् ।
तदा दाता पुरं देशं स्वयं राजा च वर्द्धते ॥ १५५ ॥

अर्थात्—यदि इन दोषोंका धारक पूजकाचार्य कहींपर प्रतिष्ठा करावे, तो समझो कि देश, पुर, राज्य तथा राजादिक नाशको प्राप्त होते हैं और प्रतिष्ठा करनेवाला तथा करानेवाला ही अच्छे फलको प्राप्त दोनों नहीं होते इस लिये उपर्युक्त उत्तम उत्तम लक्षणोंसे विभूषित ही पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) कहा जाता है । ऊपर जो जो पूजकाचार्यके लक्षण कह आये हैं, यदि उन लक्षणोंसे युक्त पूजक परमेश्वरका पूजन (प्रतिष्ठादि विधान) करे, तो उस समय धनका खर्च करनेवाला दाता, पुर, देश तथा राजा ये सब दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त होते हैं ।

पूजासार ग्रंथमें भी, नित्य पूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर, श्लोक नं० १९ से २८ तक पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया गया है । इस स्वरूपमें भी पूजकाचार्यके प्रायः वेही सब विशेषण दिये गये हैं जो कि धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें वर्णित हैं और जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है । यथाः—

"लक्षणोद्भासी[1], जिनागमविशारदः, सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, देशसंयमभूषितः, वाग्मी, श्रुतबहुग्रन्थः, अनालस्यः, ऋजुः, विनयसंयुतः, पूतात्मा[2], पूतवाग्वृत्तिः[3],

---

१ शरीरसे सुन्दर हो. २ पापाचारी न हो. ३ सच बोलनेवाला हो तथा नीच क्रिया करके आजीविका करनेवाला न हो.

शौचाचमनतत्परः, साङ्गोपाङ्गेन संशुद्धः, लक्षणलक्ष्यवित्, नीरोगी, ब्रह्मचारी च स्वदाराराविकोऽपि वा, जलमंत्रव्रतस्नातः, निरभिमानी, विचक्षणः, सुरूपी, सत्क्रियः, वैश्यादिषु समुद्भवः, इत्यादि।"

इसी प्रकार प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रंथके प्रथम परिच्छेदमें, श्लोक नं० १० से १६ तक, जो प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप दिया गया है, उसमें भी—
"कल्याणाङ्गः, रुजा हीनः, सकलेन्द्रियः, शुभलक्षणसम्पन्नः, सौम्यरूपः, सुदर्शनः, विप्रो वा क्षत्रियो वैश्यः, विकर्मकरणोऽज्झितः, ब्रह्मचारी गृहस्थो वा, सम्यग्दृष्टिः, निःकषायः, प्रशान्तात्मा, वेश्यादिव्यसनोज्झितः, दृष्टसृष्टक्रियः, विनयान्वितः, शुचिः, प्रतिष्ठाविधिवित्सुधीः, महापुराणशास्त्रज्ञः, न चार्थार्थी, न च द्वेष्टि—"

इत्यादि विशेषण पदोंसे प्रतिष्ठाचार्यके प्रायः वे ही समस्त विशेषण वर्णन किये गये हैं, जो कि जिनसंहितामें पूजकके और धर्मसंग्रहश्रावकाचार तथा पूजासार ग्रंथोंमें पूजकाचार्यके वर्णन किये हैं।

यह दूसरी बात है कि किसीने किसी विशेषणको संक्षेपसे वर्णन किया और किसीने विस्तारसे; किसीने एकशब्दमें वर्णन किया और किसीने अनेक शब्दोंमें; अथवा किसीने सामान्यतया एकरूपमें वर्णन किया और किसीने उसी विशेषणको शिष्योंको अच्छीतरह समझानेके लिये अनेक विशेषणोंमें वर्णन कर दिया परन्तु आशय सबका एक है, अतः सिद्ध है कि जिनसंहितामें जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमें प्रतिष्ठादिविधान करनेवाले पूजक अर्थात् पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका ही है।

इस प्रकार यह संक्षिप्त रूपसे, आचरण सम्बधी कथनशैलीका रहस्य है। धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थमें जो साधारणनित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका ही स्वरूप लिखा गया है, उसका भी यही कारण है।

यद्यपि ऊपर यह दिखलाया गया है कि उक्त दोनों ग्रंथोंमें जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया गया है वह ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकका स्वरूप होनेसे और उसमें शूद्रको भी स्थान दिये जानेसे, शूद्र भी ऊंचे दर्जेका नित्य पूजक हो सकता है। तथापि इतना और समझ

लेना चाहिये कि शूद्र भी उन समस्त गुणोंका पात्र है जो कि, नित्य पूजकके स्वरूपमें वर्णन किये गये हैं और वह ११ वीं प्रतिमाको धारण करके ऊंचे दर्जेका श्रावक भी होसकता है, अतः उसके ऊंचे दर्जेके नित्य पूजक हो सकनेमें कोई बाधक भी प्रतीत नहीं होता। वह पूर्ण रूपसे नित्य पूजनका अधिकारी है। अब जिन लोगोंका ऐसा ख़याल है कि शूद्रोंका उपनीति (यज्ञोपवीत धारण) संस्कार नहीं होता और इस लिये वे पूजनके अधिकारी नहीं हो सकते; उनको समझना चाहिये कि पूजनके किसी ख़ास भेदको छोड़कर आमतौरपर पूजनके लिये यज्ञोपवीत (ब्रह्म-सूत्र-जनेऊ)का होना ज़रूरी नहीं है। स्वर्गादिकके देव और देवांगनायें प्रायः सभी जिनेंद्रदेवका नित्यपूजन करते हैं और ख़ास तौरसे पूजन करनेके अधिकारी वर्णन किये गये हैं; परन्तु उनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता। ऐसी ही अवस्था मनुष्यस्त्रियोंकी है। वे भी जगह जगह शास्त्रोंमें पूजनकी अधिकारिणी वर्णन की गई हैं। स्त्रियोंकी पूजनसम्बधिनी असंख्य कथाओंसे जैनसाहित्य भरपूर है। उनका भी यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता। ऊपर उल्लेख की हुई कथाओंमें जिन गज-ग्वाल आदिने जिनेन्द्र-देवका पूजन किया है, वे भी यज्ञोपवीत संस्कारसे संस्कृत (जनेऊके धारक) नहीं थे। इससे प्रगट है कि नित्य पूजकके लिये यज्ञोपवीत संस्कारसे संस्कृत होना लाज़मी और ज़रूरी नहीं है और न यज्ञोपवीत पूजनका चिन्ह है। बल्कि वह द्विजोंके व्रतका चिन्ह है। जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८-३९-४१ में, भगवज्जिन-सेनाचार्यके निम्नलिखित वाक्योंसे प्रगट हैः—

"व्रतचिह्नं दधत्सूत्रम्........."
" व्रतसिद्ध्यर्थमेवाऽहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम्..."
" व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं मंत्रपुरःसरम्...."
" व्रतचिह्नं च नः सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितम्।"
" व्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः।"

वर्त्तमान प्रवृत्ति (रिवाज़) की ओर देखनेसे भी यही मालूम होता है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना ज़रूरी नहीं समझा जाता। क्योंकि स्थान स्थानपर नित्यपूजन करनेवाले तो बहुत हैं परंतु यज्ञोपवीतसंस्कारसे

संस्कृत (जनेऊधारक) बिरले ही जैनी देखनेमें आते हैं। और उनमें भी बहुतसे ऐसे पाये जाते हैं जिन्होंने नाममात्र कन्धेपर सूत्र (तागा) डाल लिया है, वैसे यज्ञोपवीतसंबंधी क्रियाकर्मसे वे कोसों दूर हैं। दक्षिण देशको छोड़कर अन्य देशोंमें तथा ख़ासकर पश्चिमोत्तर प्रदेश अर्थात् युक्त-प्रांत और पंजाबदेशमें तो यज्ञोपवीतसंस्कारकी प्रथा ही, एक प्रकारसे, जैनियोंसे उठ गई है; परन्तु नित्यपूजन सर्वत्र बराबर होता है। इससे भी प्रगट है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना आवश्यक कर्म नहीं है और इस लिये **जनेऊका न होना शूद्रोंको नित्यपूजन करनेमें किसी प्रकार भी बाधक नहीं हो सकता।** उनको नित्यपूजनका पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि कोई अस्पृश्य शूद्र, अपनी अस्पृश्यताके कारण, किसी मंदिरमें प्रवेश न कर सके और मूर्तिको न छू सके; परन्तु इससे उसका पूजनाधिकार खंडित नहीं होजाता। वह अपने घरपर त्रिकाल देववन्दना कर सकता है, जो नित्यपूजनमें दाखिल है। तथा तीर्थस्थानों, अतिशय क्षेत्रों और अन्य ऐसे पर्वतोंपर—जहां खुले मैदानमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं और जहां भील, चाण्डाल और म्लेच्छतक भी विना रोकटोक जाते हैं—जाकर दर्शन और पूजन कर सकता है। इसी प्रकार वह बाहरसे ही मंदिरके शिखरादिकमें स्थित प्रतिमाओंका दर्शन और पूजन कर सकता है। प्राचीन समयमें प्रायः जो जिनमन्दिर बनवाये जाते थे, उनके शिखर या द्वार आदिक अन्य किसी ऐसे उच्च स्थानपर, जहां सर्व साधारणकी दृष्टि पड़ सके, कमसेकम एक जिनप्रतिमा ज़रूर विराजमान की जाती थी, ताकि (जिससे) वे जातियां भी जो अस्पृश्य होनेके कारण, मंदिरमें प्रवेश नहीं कर सकतीं, बाहरसे ही दर्शनादिक कर सकें। यद्यपि आजकल ऐसे मंदिरोंके बनवानेकी वह प्रशंसनीय प्रथा जाती रही है—जिसका प्रधान कारण जैनियोंका क्रमसे ह्रास और इनमेंसे राजसत्ताका सर्वथा लोप हो जाना ही कहा जा सकता है—तथापि दक्षिण देशमें, जहांपर अन्तमें जैनियोंका बहुत कुछ चमत्कार रह चुका है और जहांसे जैनियोंका राज्य उठे-हुए बहुत अधिक समय भी नहीं हुआ है, इस समय भी ऐसे जिनमंदिर विद्यमान हैं जिनके शिखरादिकमें जिनप्रतिमाएँ अंकित हैं।

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों ही वर्णके सब मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारी हैं और खुशीसे नित्यपूजन कर सकते हैं। नित्यपूजनमें उनके लिये यह नियम नहीं है कि वे पूजकके उन समस्त गुणोंको प्राप्त करके ही पूजन कर सकते हो, जो कि धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रंथोंमें वर्णन किये हैं। बल्कि उनके विना भी वे पूजन कर-सकते हैं और करते हैं। क्योंकि पूजकका जो स्वरूप उक्त ग्रंथोंमें वर्णन किया है वह ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका स्वरूप है और जब वह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका है तब यह स्वतःसिद्ध है कि उस स्वरूपमें वर्णन किये हुए गुणोंमेंसे यदि कोई गुण किसीमें न भी होवे तो भी वह पूजनका अधिकारी और नित्यपूजक हो सकता है–दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि जिनके हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (परस्त्रीसेवन)–परिग्रह–इन पंच पापों या इनमेंसे किसी पापका त्याग नहीं है, जो दिग्विरतिआदि सप्त-शीलव्रत या उनमेंसे किसी शीलव्रतके धारक नहीं हैं अथवा जिनका कुल और जाति शुद्ध नहीं है या इसी प्रकार और भी किसी गुणसे जो रहित हैं, वे भी नित्यपूजन कर सकते हैं और उनको नित्यपूजनका अधि-कार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि गुणोंकी अपेक्षा उनका दर्जा क्या होगा? अथवा फलप्राप्तिमें अपने अपने भावोंकी अपेक्षा उनके क्या कुछ न्यूना-धिक्यता (कमीबेशी) होगी? और वह यहांपर विवेचनीय नहीं है।

यद्यपि आजकल अधिकांश ऐसे ही गृहस्थ जैनी पूजन करते हुए देखे जाते हैं जो हिंसादिक पांच पापोंके त्यागरूप पंचअणुव्रत या दिग्विरति आदि सप्तशीलव्रतके धारक नहीं हैं; तथापि प्रथमानुयोगके ग्रंथोंको देखनेसे मालूम होता है कि, ऐसे लोगोंका यह (पूजनका) अधिकार अर्वाचीन नहीं बल्कि प्राचीन समयसे ही उनको प्राप्त है। जहां तहां जैन-शास्त्रोंमें दियेहुए अनेक उदाहरणोंसे इसकी भले प्रकार पुष्टि होती है:—

लंकाधीश महाराज रावण परस्त्रीसेवनका त्यागी नहीं था, प्रत्युत वह परस्त्रीलम्पट विख्यात है। इसी दुर्वासनासे प्रेरित होकर ही उसने प्रसिद्ध सती सीताका हरण किया था। इसविषयमें उसकी जो कुछ भी

प्रतिज्ञा थी वह एतावन्मात्र (केवल इतनी) थी कि, "जो कोई भी परस्त्री मुझको नहीं इच्छेगी, मैं उससे बलात्कार नहीं करूंगा।" नहीं कह सकते कि उसने कितनी परस्त्रियोंका जो किसी भी कारणसे उससे रज़ामन्द (सहमत) होगई हों—सतीत्वभंग किया होगा अथवा उक्त प्रतिज्ञासे पूर्व कितनी परदाराओंसे बलात्कार भी किया होगा। इस परस्त्रीसेवनके अतिरिक्त वह हिंसादिक अन्य पापोंका भी त्यागी नहीं था। दिग्विरति आदि सप्तशील व्रतोंके पालनकी तो वहां बात ही कहां? परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराणमें अनेक स्थानोंपर ऐसा वर्णन मिलता है कि "महाराजा रावणने बड़ी भक्तिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन किया। रावणने अनेक जिनमंदिर बनवाये। वह राजधानीमें रहतेहुए अपने राजमन्दिरोंके मध्यमें स्थित श्रीशांतिनाथके सुविशाल चैत्यालयमें पूजन किया करता था। बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध करनेके लिये बैठनेसे पूर्व तो उसने इस चैत्यालयमें बड़े ही उत्सवके साथ पूजन किया था और अपनी समस्त प्रजाको पूजन करनेकी आज्ञा दी थी। सुदर्शन मेरु और कैलाश पर्वत आदिके जिनमंदिरोंका उसने पूजन किया और साक्षात् केवली भगवानका भी पूजन किया।

कौशांबी नगरीका राजा सुमुख भी परस्त्रीसेवनका त्यागी नहीं था। उसने वीरक सेठकी स्त्री वनमालाको अपने घरमें डाल लिया था। फिर भी उसने महातपस्वी वरधर्म नामके मुनिराजको वनमालासहित आहार दिया और पूजन किया। यह कथा जिनसेनाचार्यकृत तथा जिनदास ब्रह्मचारीकृत दोनों हरिवंश पुराणोंमें लिखी है।

इसी प्रकार और भी सैकड़ों प्राचीन कथाएँ विद्यमान हैं, जिनमें पापियों तथा अव्रतियोंका पापाचरण कहीं भी उनके पूजनका प्रतिबन्धक नहीं हुआ और न किसी स्थानपर ऐसे लोगोंके इस पूजन कर्मको असत्कर्म बतलाया गया। वास्तवमें, यदि विचार किया जाय तो मालूम होगा कि जिनेंद्रदेवका भावपूर्वक पूजन स्वयं पापोंका नाश करनेवाला है, शास्त्रोंमें उसे अनेक जन्मोंके संचित पापोंको भी क्षणमात्रमें भसकर देनेवाला वर्णन

किया है* । इसीसे पापोंकी निवृत्तिपूर्वक इष्ट सिद्धिके लिये लोग जिन-देवका पूजन करते हैं । फिर पापाचरणीयोंके लिये उसका निषेध कैसे हो सकता है ? उनके लिये तो ऐसी अवस्थामें, पूजनकी और भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है । पूजासार ग्रंथमें साफ़ ही लिखा है कि:—

"ब्रह्मघ्नोऽथवा गोघ्नो वा तस्करः सर्वपापकृत् ।
जिनाङ्घ्रिगंधसम्पर्कान्मुक्तो भवति तत्क्षणम् ॥"

अर्थात्—जो ब्रह्महत्या या गोहत्या कियेहुए हो, दूसरोंका माल चुरानेवाला चोर हो अथवा इससे भी अधिक सम्पूर्ण पापोंका करनेवाला भी क्यों न हो, वह भी जिनेंद्र भगवानके चरणोंका, भक्तिभावपूर्वक, चंदनादि सुगंध द्रव्योंसे पूजन करनेपर तत्क्षण उन पापोंसे छुटकारा पानेमें समर्थ होजाता है । इससे साफ़ तौर पर प्रगट है कि **पापीसे पापी और कलंकीसे कलंकी मनुष्य भी श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन कर सकता है** और भक्ति भावसे जिनदेवका पूजन करके अपने आत्माके कल्याणकी ओर अग्रसर हो सकता है । इस लिये जिस प्रकार भी वन सके सबको नित्य-पूजन करना चाहिये । सभी नित्यपूजनके अधिकारी हैं और इसी लिये ऊपर यह कहा गया था कि इस नित्यपूजनपर मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊंच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती और देवता सबका समानाऽधिकार है । समानाधिकारसे, यहां, कोई यह अर्थ न समझ लेवे कि सब एकसाथ मिलकर, एक थालीमें, एक संदली या चौकीपर अथवा एक ही स्थानपर पूजनकरनेके अधिकारी हैं किन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि सभी पूजनके अधिकारी हैं । वे, एक रसोई या भिन्नभिन्न रसोईयोंसे भोजन करनेके समान, आगे पीछे, बाहर भीतर, अलग और शामिल, जैसा अवसर हो और जैसी उनकी योग्यता उनको इजाज़त (आज्ञा) दे, पूजन कर सकते हैं ।

---

* जिनपूजा कृता हन्ति पापं नानाभवोद्भवम् ।
बहुकालचितं काष्ठराशिं वह्निमिवाखिलम् ॥ ९–१०३ ॥
—धर्मसंग्रहश्रावकाचार ।

दस्साधिकार।

यद्यपि अब कोई ऐसा मनुष्य या जातिविशेष नहीं रही जिसके पूज-नाऽधिकारकी मीमांसा की जाय—जैनधर्ममें श्रद्धा और भक्ति रखने-वाले, ऊंच नीच सभी प्रकारके, मनुष्योंको नित्यपूजनका अधि-कार प्राप्त है—तथापि इतनेपर भी जिनके हृदयमें इस प्रकारकी कुछ शंका अवशेष हो कि दस्से (गाटे) जैनी भी पूजन कर सकते हैं या कि नहीं, उनको इतना और समझ लेना चाहिये कि जैनधर्ममें 'दस्से' और 'बीसे' का कोई भेद नहीं है; न कहींपर जैनशास्त्रोंमें 'दस्से' और 'बीसे' श-ब्दोंका प्रयोग किया गया है।

जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंसे बाह्य (बाहर) बीसोंका कोई पांचवाँ वर्ण नहीं है, उसी प्रकार दस्सोंका भी कोई भिन्न वर्ण नहीं है। चारों वर्णोंमें ही उनका भी अन्तर्भाव है। चारों ही वर्णके सभी मनुष्योंको पूजनका अधिकार प्राप्त होनेसे उनको भी वह अधिकार प्राप्त है। वैश्य जातिके दस्सोंका[1] वर्ण वैश्य ही होता है। वे वैश्य होनेके कारण शूद्रोंसे ऊंचा दर्जा रखते हैं और शूद्र लोग मनुष्य होनेके कारण तिर्यंचोंसे ऊंचा दर्जा रखते हैं। जब शूद्र तो शूद्र, तिर्यंच भी पूज-नके अधिकारी वर्णन किये गये हैं—और तिर्यंच भी कैसे? मेंडक जैसे! तब वैश्य जातिके दस्से पूजनके अधिकारी कैसे नहीं? क्या वे जैनगृहस्थ या श्रावक नहीं होते? अथवा श्रावकके बारह व्रतोंको धारण नहीं करस-कते? जब दस्से लोग यह सब कुछ होते हैं और यह सब कुछ अधिकार उनको प्राप्त है, तब वे पूजनके अधिकारसे कैसे वंचित रक्खे जा सकते हैं? पूजन करना गृहस्थ जैनियोंका परमावश्यक कर्म है। उसके साथ अग्रवाल, खं-डेलवाल या परवार आदि जातियोंका कोई बन्धन नहीं है—सबके लिये स-मान उपदेश है—जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए आचार्योंके वाक्योंसे प्रगट है। परमोपकारी आचार्योंने तो ऐसे मनुष्योंको भी पूजनाऽधिकारसे वंचित नहीं रक्खा, जो आकण्ठ पापमें मग्न हैं और पापीसे पापी कहलाते हैं। फिर

---

१ वैश्यजातिके दस्सोंको **छोटीसरण** (श्रेणि) या **छोटीसेन**के बनिये अथवा **बिनैकया** भी कहते हैं।

वैश्य जातिके दस्सोंकी तो बात ही क्या होसकती है? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजका तो वचन ही यह है कि विना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता। दस्से लोग श्रावक होते ही हैं, इससे उनको पूजनका अधिकार स्वतःसिद्ध है और वे बराबर पूजनके अधिकारी हैं।

शोलापुरमें दस्से जैनियोंके बनाये हुए तीन शिखरबन्द मंदिर और अनेक चैत्यालय मौजूद हैं। ग्वालियरमें भी दस्सोंका एक मंदिर है। सिवनीकी तरफ़ दस्से भाईयोंके बहुतसे जैनमंदिर हैं। श्रीसम्मेद शिखर, शत्रुंजय, मांगीतुंगी और कुन्थलगिरि तीर्थोंपर शोलापुरवाले प्रसिद्ध धनिक श्रीमान् हरिभाई देवकरणजी दस्साके बनायेहुए जिनमंदिर हैं। इन समस्त मंदिर और चैत्यालयोंमें दस्सा, बीसा, सभीलोग बराबर पूजन करते हैं।

शोलापुरके प्रसिद्ध विद्वान् सेठ हीराचंद नेमिचंदजी आनरेरी मजिस्ट्रेट दस्सा जैनी हैं। उनके घरमें एक चैत्यालय है जिसमें वे और अन्य भाई सभी पूजन करते हैं। इसी प्रकार अन्य स्थानोंपर भी दस्सा जैनियोंके मन्दिर हैं जिनमें सब लोग पूजन करते हैं। जहां उनके पृथक् मंदिर नहीं हैं वहां वे प्रायः बीसोंके मंदिरमें ही दर्शन पूजन करते हैं।

यह दूसरी बात है कि कोई एक द्रव्य या दो द्रव्यसे पूजन करनेको अथवा मंदिरके वस्त्रों और मंदिरके उपकरणोंमें पूजन न करके अन्य वस्त्रादिकोंमें पूजन करनेको पूजन ही न समझता हो और इसी अभिप्रायके अनुसार कहीं कहींके बीसे अपने मंदिरोंमें दस्सोंको मंदिरके वस्त्र पहनकर और मंदिरके उपकरणोंको लेकर अष्ट द्रव्यसे पूजन न करने देते हों, परन्तु इसको केवल उनकी कल्पना ही कह सकते हैं—शास्त्रमें इसका कोई आधार और प्रमाण नहीं है। पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपके अनुसार वह पूजन अवश्य है। तीर्थस्थानों और अतिशय क्षेत्रोंकी पूजा वन्दनाको—दस्से बीसे—सभी जाते हैं और सभी अष्टद्रव्यसे पूजन करते हैं।

श्रीतारंगाजी तीर्थपर नानचंद पद्मसी नामके एक मुनीम हैं जो दस्सा जैनी हैं। वे उक्त तीर्थपर बीसोंके मंदिरमें—मन्दिरके वस्त्रोंको पहन कर और मंदिरके उपकरणोंको लेकर ही—नित्य अष्ट द्रव्यसे पूजन करते हैं। अन्य स्थानोंपर भी—जहांके बीसोंमें इस प्रकारकी कल्पना नहीं है—दस्सा

जैनी बीसोंके मंदिरमें उसी प्रकार अष्ट द्रव्यादिसे पूजन करते हैं जिस प्रकार कि वे अपने मंदिरोंमें करते हैं। जिनको ऐसा देखनेका अवसर न मिला हो वे दक्षिण देशकी ओर जाकर स्वयं देख सकते हैं। उधर जानेपर उनको ऐसी जैनजातियां भी आम तौरपर पूजन करती हुई मिलेंगी जिनमें पुनर्विवाहकी प्रथा भी जारी है।

इसके अतिरिक्त दस्सा जैनियोंने अनेक प्रतिष्ठाएँ भी कराई हैं। एक प्रतिष्ठा शोलापुरके सेठ रावजी नानचंदने कराई थी। पिछले साल भी दस्सा जैनियोंकी दो प्रतिष्ठाएँ हो चुकी हैं। प्रतिष्ठा करानेवाले भगवानकी प्रतिमाके साथ रथादिकमें बैठते हैं और स्वयं भगवानका अष्ट द्रव्यसे पूजन करते हैं। इसप्रकार प्रवृत्ति भी दस्सोंके पूजनाऽधिकारका भले प्रकार समर्थन करती है। इसलिये दस्सोंको बीसोंके समान ही पूजनका अधिकार प्राप्त है। किसी किसीका कहना है कि अपध्वंसज अर्थात् व्यभिचारजातको ही दस्सा कहते हैं और व्यभिचारजात पूजनके अधिकारी नहीं होते; परन्तु ऐसा कहनेमें कोई प्रमाण नहीं है। जब प्रवृत्तिकी ओर देखते हैं तो वह भी इसके विरुद्ध पाई जाती है—जो मनुष्य किसी विधवा स्त्रीको प्रगट रूपसे अपने घरमें डाल लेता है अर्थात् उसके साथ कराओ (धरेजा) कर लेता है वह स्वयं व्यभिचारजात (व्यभिचारसे पैदा हुआ मनुष्य) न होते हुए भी दस्सा समझा जाता है। यदि कोई बीसा किसी नीच जाति (शूद्रादिक) की कन्यासे विवाह कर लेता है तो वह भी आजकल जातिसे च्युत किया जाकर दस्सा या गाटा बनादिया जाता है और उसकी संतान भी दस्सोंमें ही परिगणित होती है। इसीप्रकार यदि विधवाके साथ कराओ कर लेनेसे कोई पुत्र पैदा हो और उसका विवाह विधवासे न होकर किसी कन्यासे हो तो विधवा-पुत्रकी संतान व्यभिचारजात न होते हुए भी दस्सा ही कहलाती है। बहुधा वह संतान जो भर्तारके जीवित रहते हुए जारसे उत्पन्न होती है, वह व्यभिचारजात होते हुए भी दस्सोंमें शामिल नहीं की जाती। कहीं कहींपर दस्सेकी कन्यासे विवाह कर लेनेवाले बीसेको भी जातिसे खारिज (च्युत) करके दस्सोंमें शामिल कर देते हैं; परन्तु बम्बई और दक्षिण प्रान्तादि बहुतसे स्थानोंमें यह प्रथा नहीं है। वहांपर दस्सों और बीसोंमें परस्पर

विवाह संबंध होनेसे कोई जातिच्युत नहीं किया जाता। हमारी भारतवर्षीय दिगम्बरजैनमहासभाके सभापति, जैनकुलभूषण श्रीमान सेठ माणिकचंदजी जे. पी. बम्बईके भाई पानाचंदजीका विवाह भी एक दस्सेकी कन्यासे हुआ था; परन्तु इससे उनपर कोई कलंक नहीं आया और कलंक आनेकी कोई बात भी न थी। प्राचीन और समीचीन प्रवृत्ति भी, शास्त्रोंमें, ऐसी ही देखी जाती है जिससे ऐसे विवाह सम्बन्धोंपर कोई दोषारोपण नहीं हो सकता। अधिक दूर जानेकी जरूरत नहीं है। श्रीनेमिनाथ तीर्थंकरके चचा वसुदेवजीको ही लीजिये। उन्होंने एक व्यभिचारजातकी पुत्रीसे, जिसका नाम प्रियंगुसुंदरी था, विवाह किया था। प्रियंगुसुंदरीके पिताका अर्थात् उस व्यभिचारजातका नाम एणीपुत्र था। वह एक तापसीकी कन्या ऋषिदत्तासे, जिससे श्रावस्ती नगरीके राजा शीलायुधने व्यभिचार किया था और उस व्यभिचारसे उक्त कन्याको गर्भ रह गया था, उत्पन्न हुआ था। यह कथा श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें लिखी है। इस विवाहसे वसुदेवजीपर, जो बड़े भारी जैनधर्मी थे कोई कलंक नहीं आया। न कहींपर वे पूजनाधिकारसे वंचित रक्खे गये। बल्कि उन्होंने श्रीनेमिनाथजीके समवसरणमें जाकर साक्षात् श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन किया है और उनकी उक्त प्रियंगुसुंदरी राणीने जिनदीक्षा धारण की है। इससे प्रगट है कि व्यभिचारजातहीका नाम दस्सा नहीं है और न कोई व्यभिचारजात (अपध्वंसज) पूजनाऽधिकारसे वंचित है। "शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः" अर्थात् समस्त अपध्वंसज (व्यभिचारसे उत्पन्न हुए मनुष्य) शूद्रोंके समानधर्मी हैं, यह वाक्य यद्यपि मनुस्मृतिका है; परन्तु यदि इस वाक्यको सत्य भी मान लिया जाय और अपध्वंसजोंहीको दस्से समझ लिया जाय, तो भी वे पूजनाधिकारसे वंचित नहीं हो सकते। क्योंकि शूद्रोंको साफ तौरसे पूजनका अधिकार दिया गया है, जिसका कथन ऊपर विस्तारके साथ आचुका है। जब शूद्रोंको पूजनका अधिकार प्राप्त है, तब उनके समानधर्मियोंको उस अधिकारका प्राप्त होना स्वतःसिद्ध है।

---

1 व्यभिचारजात भी दस्सा होता है ऐसा कह सकते हैं।

और पूजनका अधिकार ही क्या? जैनशास्त्रोंके देखनेसे तो मालूम होता है कि अपध्वंसज लोग जिनदीक्षातक धारण कर सकते हैं, जिसकी अधिकार-प्राप्ति शूद्रोंको भी नहीं कही जाती। उदाहरणके तौरपर राजा कर्णहीको लीजिये। राजा कर्ण एक कुँवारी कन्यासे व्यभिचारद्वारा उत्पन्न हुआ था और इस लिये वह अपध्वंसज और कानीन कहलाता है। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें लिखा है कि महाराजा जरासिंधके मारे जानेपर राजा कर्णने सुदर्शन नामके उद्यानमें जाकर दमवर नामके दिगम्बर मुनिके निकट जिनेश्वरी दीक्षा धारण की। श्रीजिनदास ब्रह्मचारीकृत हरिवंशपुराणमें भी ऐसा ही लिखा है, जैसा कि उसके निम्नलिखित श्लोकसे प्रगट है:—

"विजितोऽप्यरिभिः कर्णो निर्विण्णो मोक्षसौख्यदाम्।
दीक्षां सुदर्शनोद्यानेऽग्रहीद्दमवरान्तिके ॥२६–२०८॥"

अर्थात्—शत्रुओंसे विजित होनेपर राजा कर्णको वैराग्य उत्पन्न होगया और तब उन्होंने सुदर्शन नामके उद्यानमें जाकर श्रीदमवर नामके मुनिके निकट, मोक्षका सुख प्राप्त करानेवाली, जिनदीक्षा धारण की।

इससे यह भी प्रगट हुआ कि अपध्वंसज लोग अपने वर्णको छोड़कर शूद्र नहीं हो जाते; बल्कि वे शूद्रोंसे कथंचित् ऊंचा दर्जा रखते हैं और इसीलिये दीक्षा धारण कर सकते हैं। ऐसी अवस्थामें उनका पूजनाऽधिकार और भी निर्विवाद होता है।

यदि थोड़ी देरके लिये व्यभिचारजातको पूजनाऽधिकारसे वंचित रक्खा जावे तो कुंड, गोलक, कानीन और सहोढादिक सभी प्रकारके व्यभिचारजात पूजनाऽधिकारसे वंचित रहेंगे—भर्त्तारके जीवित रहनेपर जो संतान जारसे उत्पन्न होती है; वह कुंड कहलाती है। भर्त्तारके मरे पीछे जो संतान जारसे उत्पन्न होती है उसको गोलक कहते हैं। अपनी माताके घर रहनेवाली कुँवारी कन्यासे व्यभिचारद्वारा जो संतान उत्पन्न होती है वह कानीन कही जाती है और जो संतान ऐसी कुँवारी कन्याको गर्भ रह जानेके पश्चात् उसका विवाह हो जानेपर उत्पन्न होती है, उसको सहोढ कहते हैं—इन चारों भेदोंमेंसे गोलक और कानीनकी परीक्षा

(पचान) तथा प्राय: सहोढकी परीक्षा भी आसानीसे हो सकती है; परन्तु कुंडसंतानकी परीक्षाका और खासकर ऐसी कुंडसंतानकी परीक्षाका, कोई साधन नहीं है, जो भर्त्तारके बारहों महीने निकट रहते हुए (अर्थात् परदेशमें न होते हुए) उत्पन्न हो। कुंडकी माताके सिवा और किसीको यह रहस्य मालूम नहीं हो सकता। बल्कि कभी कभी तो उसको भी इसमें भ्रम होना संभव है—वह भी ठीक ठीक नहीं कह सकती कि यह संतान जारसे उत्पन्न हुई या असली भर्त्तारसे। व्यभिचारजातको पूजनाऽधिकारसे वंचित करनेपर कुंडसंतान भी पूजन नहीं कर सकती, और कुंड संतानकी परीक्षा न हो सकनेसे संदिग्धावस्था उत्पन्न होती है। संदिग्धाऽवस्थामें किसीको भी पूजन करनेका अधिकार नहीं होसकता। इससे पूजन करनेका ही अभाव सिद्ध हो जायगा, यही बड़ी भारी हानि होगी। अतः कोई व्यभिचारजात पूजनाऽधिकारसे वंचित नहीं होसकता। दूसरे जब पापीसे पापी मनुष्य भी नित्यपूजन कर सकते हैं तो फिर कोरे व्यभिचारजातकी तो बात ही क्या हो सकती है? वे अवश्य पूजन कर सकते हैं।

वास्तवमें, यदि विचार किया जाय तो, जैनमतके पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपाऽनुसार, कोई भी मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारसे वंचित नहीं रह सकता। जिन लोगोंने परमात्माको रागी, द्वेषी माना है—पूजन और भजनसे परमात्मा प्रसन्न होता है, ऐसा जिनका सिद्धान्त है और जो आत्मासे परमात्मा बनना नहीं मानते, यदि वे लोग शूद्रोंको या अन्य नीच मनुष्योंको पूजनके अधिकारसे वंचित रक्खें तो कुछ आश्चर्य नहीं क्योंकि उनको यह भय हो सकता है कि कहीं नीचे दर्जेके मनुष्योंके पूजन कर लेनेसे या उनको पूजन करने देनेसे परमात्मा कुपित न हो जावे और उन सभीको फिर उसके कोपका प्रसाद न चखना पड़े। परन्तु जैनियोंका ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जैनी लोग परमात्माको परमवीतरागी, शान्तस्वरूप और कर्ममलसे रहित मानते हैं। उनके इष्ट परमात्मामें राग, द्वेष, मोह और काम, क्रोधादिक दोषोंका सर्वथा अभाव है। किसीकी निन्दा-स्तुतिसे उस परमात्मामें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और न उसकी वीतरागता या शान्ततामें किसी भी कारणसे कोई बाधा उपस्थित

हो सकती है। इसलिये किसी क्षुद्र या नीचे दर्जेके मनुष्यके पूजन कर लेनेसे परमात्माकी आत्मामें कुछ मलिनता आ जायगी, उसकी प्रतिमा अ-पूज्य हो जायगी, अथवा पूजन करनेवालेको कुछ पाप वन्ध हो जायगा, इस प्रकारका कोई भय ज्ञानवान् जैनियोंके हृदयमें उत्पन्न नहीं हो सकता। जैनियोंके यहां इस समय भी चांदनपुर (महावीरजी) आदि अनेक स्थानोंपर ऐसी प्रतिमाओंके प्रत्यक्ष दृष्टान्त मौजूद हैं, जो शूद्र या बहुत नीचे दर्जेके मनुष्योंद्वारा भूगर्भसे निकाली गई—स्पर्शी गई—पूजी गई और पूजी जाती हैं, परन्तु इससे उनके स्वरूपमें कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ, न उनकी पूज्यतामें कोई फर्क़ (भेद) पड़ा और न जैनसमाजको ही उसके कारण किसी अनिष्टका सामना करना पड़ा; प्रत्युत वे बराबर जैनियोंहीसे नहीं किन्तु अजैनियोंसे भी पूजी जाती हैं और उनके द्वारा सभी पूजकोंका हितसाधन होनेके साथ साथ धर्मकी भी अच्छी प्रभावना होती है। अतः जैनसिद्धान्तके अनुसार किसी भी मनुष्यके लिये नित्यपूजनका निषेध नहीं हो सकता। दस्सा, अपध्वंसज या व्यभिचारजात सबको इस पूजनको पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह दूसरी बात है कि—अपने आन्तरिक द्वेष, आपसी वैमनस्य, धार्मिक भावोंके अभाव और हृदयकी संकीर्णता आदि कारणोंसे—एक जैनी किसी दूसरे जैनीको अपने घरू या अपने अधि-कृत मंदिरमें ही न आने दे अथवा आने तो दे किन्तु उसके पूजन कार्यमें किसी न किसी प्रकारसे बाधक हो जावे। ऐसी बातोंसे किसी व्यक्तिके पूजनाऽधिकारपर कोई असर नहीं पड़ सकता। वह व्यक्ति खुशीसे उस मंदिरमें नहीं तो, अन्यत्र पूजन कर सकता है। अथवा स्वयं समर्थ और इस योग्य होनेपर अपना दूसरा नवीन मंदिर भी बनवा सकता है। अनेक स्था-नोंपर ऐसे भी नवीन मंदिरोंकी सृष्टिका होना पाया जाता है।

यहांपर यदि यह कहा जावे कि आगम और सिद्धान्तसे तो दस्सोंको पूजनका अधिकार सिद्ध है और अधिकतर स्थानोंपर वे बराबर पूजन करते भी हैं; परन्तु कहीं कहींपर दस्सोंको जो पूजनका निषेध किया जाता है वह किसी जातीय अपराधके कारण एक प्रकारका तत्रस्थ जातीय दंड है; तो क-हना होगा कि शास्त्रोंकी आज्ञाको उल्लंघन करके धर्मगुरुओंके उद्देश्य विरुद्ध ऐसा दंड विधान करना कदापि न्यायसंगत और माननीय नहीं हो सकता

और न किसी सभ्य जातिकी ओरसे ऐसी आज्ञाका प्रचारित किया जाना समुचित प्रतीत होता है कि अमुक मनुष्य धर्मसेवनसे वंचित किया गया और उसकी संतानपरम्परा भी धर्मसेवनसे वंचित रहेगी।

सांसारिक विषयवासनाओंमें फँसे हुए मनुष्य वैसे ही धर्म कार्योंमें शिथिल रहते हैं, उलटा उनको दंड भी ऐसा ही दिया जावे कि वे धर्मके कार्य न करने पावें, यह कहांकी बुद्धिमानी, वत्सलता और जातिहितैपिता हो सकती है? सुदूरदर्शी विद्वानोंकी दृष्टिमें ऐसा दंड कदापि आदरणीय नहीं हो सकता। ऐसे मनुष्योंके किसी अपराधके उपलक्षमें तो वही दंड प्रशंसनीय हो सकता है जिससे धर्मसाधन और अपने आत्म-सुधारका और अधिक अवसर मिले और उसके द्वारा वे अपने पापोंका शमन या संशोधन कर सकें। न यह कि डूबतेको और धक्का दिया जावे! बिरादरी या जातिका यह कर्तव्य नहीं है कि वह किसीसे धर्मके कार्य छुड़ाकर उसको पापकार्योंके करनेका अवसर देवे।

इसके सिवा जो धर्माऽधिकार किसीको स्वाभाविक रीतिसे प्राप्त है उसके छीन लेनेका किसी बिरादरी या पंचायतको अधिकार ही क्या है? बिरादरीके किसी भाईसे यदि बिरादरीके किसी नियमका उल्लंघन हो जावे या कोई अपराध बन जावे तो उसके लिये बिरादरीका केवल इतना ही कर्त्तव्य हो सकता है कि वह उस भाईपर कुछ आर्थिक दंड कर देवे या उसको अपने अपराधका प्रायश्चित्त लेनेके लिये बाधित करे और जबतक वह अपने अपराधका योग्य प्रायश्चित्त न ले ले तबतक बिरादरी उसको बिरादरीके कामोंमें अर्थात् विवाह शादी आदिक लौकिक कार्योंमें शामिल न करे और न बिरादारी उसके यहां ऐसे कार्योंमें सम्मिलित हो। इसीप्रकार वह उससे खाने पीने लेने देने और रिश्तेनातेका सम्बध भी छोड़ सकती है। परन्तु, इससे अधिक, धर्ममें हस्तक्षेप करना बिरादरीके अधिकारसे बाह्य है और किसी बिरादरीके द्वारा ऐसा किये जानेका फलितार्थ यही हो सकता है कि वह बिरादरी, एक प्रकारसे, अपने पूज्य धर्मगुरुओंकी अवज्ञा करती है।

जिन लोगों (जैनियों) के हृदयमें ऐसे दंडविधानका विकल्प उत्पन्न हो उनको यह भी समझना चाहिये कि किसीके धर्मसाधनमें विघ्न

करना बड़ा भारी पाप है। अंजनासुंदरीने अपने पूर्वजन्ममें थोड़े ही कालके लिये, जिनप्रतिमाको छिपाकर, अपनी सौतनके दर्शन पूजनमें अंतराय डाला था। जिसका परिणाम यहांतक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममें २२ वर्षतक पतिका दुःसह वियोग सहना पड़ा और अनेक संकट और आपदाओंका सामना करना पड़ा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीपद्मपुराणके देखनेसे मालूम हो सकता है।

रयणसार ग्रंथमें श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजने लिखा है कि "दूसरोंके पूजन और दानमें अन्तराय (विघ्न) करनेसे जन्मजन्मान्तरमें क्षय, कुष्ट, शूल, रक्तविकार, भगंदर, जलोदर, नेत्रपीड़ा, शिरोवेदना आदिक रोग तथा शीत उष्णके आताप और (कुयोनियोंमें) परिभ्रमण आदि अनेक दुःखोंकी प्राप्ति होती है।" यथाः—

"खयकुट्टसूलमूलो लोयभगंदरजलोदरक्खिसिरो।
सीदुण्हवह्मराइ पूजादाणंतरायकम्मफलं ॥ ३३ ॥"

इसलिये पापोंसे डरना चाहिये और किसीको दंडादिक देकर पूजनसे वंचित करना तो दूर रहो, भूल कर भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिससे दूसरोंके पूजनादिक धर्मकार्योंमें किसी प्रकारसे कोई बाधा उपस्थित हो। बल्कि—

उपसंहार।

उचित तो यह है कि, दूसरोंको हरतरहसे धर्मसाधनका अवसर दिया जाय और दूसरोंकी हितकामनासे ऐसे अनेक साधन तैयार किये जाँय जिनसे सभी मनुष्य जिनेन्द्रदेवके शरणागत हो सकें और जैनधर्ममें श्रद्धा और भक्ति रखते हुए खुशीसे जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजनादि करके अपनी आत्माका कल्याण कर सकें।

इसके लिये जैनियोंको अपने हृदयकी संकीर्णता दूरकर उसको बहुत कुछ उदार बनानेकी ज़रूरत है। अपने पूर्वजोंके उदार-चरितोंको पढ़कर, जैनियोंको, उनसे तद्विषयक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उनके अनुकरणद्वारा अपना और जगतके अन्य जीवोंका हितसाधन करना चाहिये।

भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराणको देखनेसे मालूम होता है कि आदीश्वर भगवानके सुपुत्र भरतमहाराज, प्रथम चक्रवर्त्तीने अपनी राजधानी अयोध्यामें रत्नखचित जिनविम्वोंसे अलंकृत चौवीस चौवीस घंटे तय्यार कराकर उनको, नगरके वाहरी दरवाजों और राजमहलोंके तोरणद्वारों तथा अन्य महाद्वारोंपर, सोनेकी ज़ंजीरोंमें बांधकर प्रलम्बित किया था। जिससमय भरतजी इन द्वारोंमेंसे होकर बाहर निकलते थे या इनमें प्रवेश करते थे उससमय वे तुरन्त अर्हन्तोंका स्मरण करके, इन घंटोंमें स्थित अर्हत्प्रतिमाओंकी वन्दना और उनका पूजन करते थे। नगरके लोगों तथा अन्य प्रजाजनोंने भरतजीके इस कृत्यको बहुत पसंद किया, वे सव उन घंटोंका आदर सत्कार करने लगे और उसके पश्चात् पुरजनोंने भी अपनी अपनी शक्ति और विभवके अनुसार उसी प्रकारके घंटे अपने अपने घरोंके तोरणद्वारोंपर लटकाये*। भरतजीका यह उदारचरित बड़ा ही चित्तको आकर्षित करनेवाला है और इस (प्रकृत) विषयकी बहुत कुछ शिक्षाप्रदान करनेवाला है। उनके अन्य

---

* उपर्युक्त आशयको प्रगट करनेवाले आदिपुराण (पर्व ४१) के वे आर्षवाक्य इसप्रकार हैं:—

"निर्मापितास्ततो घंटा जिनविम्वैरलंकृताः।
परार्ध्यरत्ननिर्माणाः सम्वद्धा हेमरज्जुभिः॥ ८७॥
लम्बिताश्च वहिर्द्वारि ताश्चतुर्विंशतिप्रमाः।
राजवेश्ममहाद्वारगोपुरेष्वप्यनुक्रमात्॥ ८८॥
यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्ययं प्रभुः।
तदा मौलाग्रलग्नाभिरस्य स्यादर्हतां स्मृतिः॥ ८९॥
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृत्वाभिवन्दनाम्।
पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः॥ ९०॥
रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना।
दृष्ट्वाऽर्हद्वन्दनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्कृतादरः॥ ९३॥
पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्मतोरणदामसु।
यथाविभवमावद्धा घंटास्ताः सपरिच्छदाः॥ ९४॥

उदार गुणों और चरितोंका बहुत [illegible] देखनेसे मिल सकता है। इसीप्रकार और भी सैकड़ों और हजारों महात्माओंका नामोल्लेख किया जा सकता है । जैनसाहित्यमें उदारचरित महात्माओंकी कमी नहीं है। आज कल भी जो अनेक पर्वतोंपर खुले मैदानमें तथा गुफाओंमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान है और दक्षिणादिदेशोंमें कहीं कहींपर जिनप्रतिमाओंसहित मानस्तंभादिक पाये जाते हैं, वे सब जैन पूर्वजोंकी उदार चित्तवृत्तिके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। उदारचरित महात्माओंके आश्रित रहनेसे ही यह जैनधर्म अनेकवार विश्वव्यापी हो चुका है । अब भी यदि राष्ट्रधर्मका सेहरा किसी धर्मके सिर बंध सकता है तो वह यही धर्म है जो प्राणीमात्रका शुभचिन्तक है। ऐसे धर्मको पाकर भी हृदयमें इतनी संकीर्णता और स्वार्थपरताका होना, कि एक भाई तो पूजन कर सके और दूसरा भाई पूजन न करने पावे, जैनियोंके लिये बड़ी भारी लज्जाकी बात है। जिन जैनियोंका, "वसुधैव कुटुम्बकम्[1]," यह खास सिद्धान्त था; क्या वे उसको यहांतक भुला बैठें कि अपने सहधर्मियोंमें भी उसका पालन और वर्त्ताव न करें! जातिभेद या वर्णभेदके कारण आपसमें ईर्षा द्वेष रखना, एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करना और अपने लौकिक कार्योंसंबंधी कषायको धार्मिक कार्योंमें निकालना, ये सब जैनियोंके आत्म-गौरवको नष्ट करनेवाले कार्य हैं । जैनियोंको इनसे बचना चाहिये और समझना चाहिये कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण अपनी अपनी क्रियाओं (वृत्ति) के भेदकी अपेक्षा वर्णन किये गये हैं। वास्तवमें चारों ही वर्ण जैनधर्मको धारण करने एवं जिनेंद्रदेवकी पूजा उपासना करनेके योग्य हैं और इस सम्बन्धसे जैनधर्मको पालन करते हुए सब आपसमें भाई भाईके समान हैं * । इसलिये, हृदयकी संकीर्णताको त्यागकर धार्मिक कार्योंके अनुष्ठानमें सब जैनियोंको परस्पर

---

१ समस्त भूमंडल अपना कुटुम्ब है ।

*"विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः ।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥"

—सोमसेनाचार्य ।

पुताकवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत आदिसमें प्रेम रखते हुए एक दूसरेके कार्योंमें सहायक होना चाहिये । इसीप्रकार जो लोग जैनधर्मकी शरणमें आवें या आना चाहें, ऐसे नवीन जैनियों या आत्महितैषियोंका ऊंचे दिलसे अभिनन्दन करते हुए, उनको सब प्रकारसे धर्मसाधनमें सहायता देनी चाहिये ।

आशा है कि हमारे विचारशील निष्पक्ष विद्वान् और परोपकारी भाई इस मीमांसाको पढ़कर सत्यासत्यके निर्णयमें दृढता धारण करेंगे और अपने कर्त्तव्यको समझकर जहां कहीं, सुशिक्षाके अभाव और संसर्गदोषके कारण, आगम और धर्मगुरुओंके उद्देश्यविरुद्ध प्रवृत्ति पाई जावे उसको उठाने और उसके स्थानमें शास्त्रसम्मत समीचीन रीतिका प्रचार करनेमें दत्तचित्त और यत्नशील होंगे । इत्यलं विज्ञेषु ।

निष्पक्ष विद्वानोंका चरणसेवक—

जुगलकिशोर जैन, मुख़तार

देववन्द जि० सहारनपुर ।